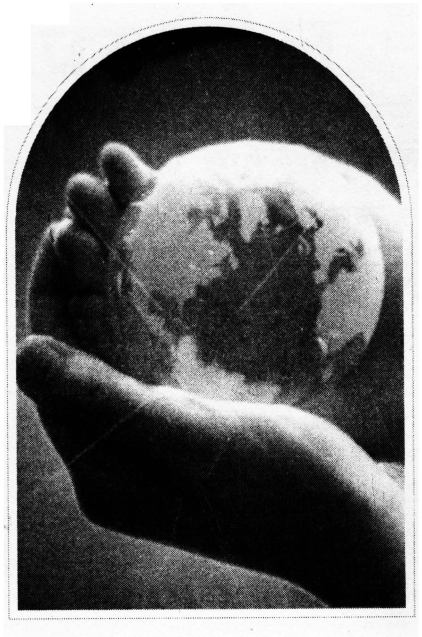


श्री चन्द्रप्रभ

अन्तर के पट खोल



साधना उसी के लिए है,
जो साधना की साधना के भाव से जिए .



अन्तर के पट खोल

आध्यात्मिक सत्य से रूबरू करवाते हुए हमारे अंतर्मन को
शांति, शक्ति एवं सौंदर्य प्रदान करने वाली पुस्तक



श्री चन्द्रप्रभ

अंतर के पट खोल
श्री चन्द्रप्रभ



प्रकाशक : श्री जितयशा फाउंडेशन
बी-7 अनुकम्पा द्वितीय, एम.आई.रोड, जयपुर (राज.)
आशीष : गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी म.
मुद्रक : भारत प्रेस, जोधपुर
मूल्य : 30/-

प्रवेश से पूर्व

प्रस्तुत पुस्तक 'अन्तर के पट खोल' आत्मज्ञानी संत पूज्य श्री चन्द्रप्रभ द्वारा मसूरी के नैसर्गिक वातावरण में दिए गए अमृत प्रवचनों का सार-संकलन है। यह एक ऐसी अद्भुत-अनमोल पुस्तक है जो व्यक्ति को आध्यात्मिक शांति, शक्ति और मुक्ति प्राप्त करने का रास्ता प्रदान करती है।

पूज्य श्री चन्द्रप्रभ कहते हैं – विश्व के प्रत्येक सफल और महान व्यक्ति की श्रेष्ठता के पीछे एक तत्त्व का हाथ अवश्य रहा है और वह है उसकी आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक शांति, आध्यात्मिक सौंदर्य। वे कहते हैं कि अध्यात्म कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसका संबंध किसी अलौकिक-असाधारण व्यक्ति के साथ हो। अध्यात्म तो सीधे अर्थ में अपने में अन्तर्निहित मानसिक और चैतन्य-शक्ति के साथ एकाकार होना है।

श्री चन्द्रप्रभ का यह वक्तव्य अत्यन्त प्रेरक है कि अध्यात्म को आत्मसात् करने के लिए हमें किसी गुफा में जाने की जरूरत नहीं है। केवल स्वयं को शांतिमय और आनंदमय बनाने की मानसिकता तैयार करने की आवश्यकता है। हमारी साँस हमारे भीतर-बाहर का सेतु है, इसलिए जीवन की गहराई में उतरने के लिए प्रथम चरण में 'ओम्' मंत्र के साथ साँसों को लंबा-गहरा करने का, हर साँस के साथ स्वयं को एकलय करने का अभ्यास किया जाना चाहिए। जैसे-जैसे साँसों के साथ एकलयता सधती चली जाती है, शब्द, संकल्प-विकल्प, विचार, मंत्र स्वतः मौन होते चले जाते हैं। शरीर, मन और प्राणों में सहज शांति, आरोग्य और आनंदमय स्थिति बनने लगती है और तब रूबरू होने लगते हैं हम स्वयं की सूक्ष्म जीवनी शक्ति से अपनी अंतश्चेतना से। उसी से खुलते हैं फिर प्रभुता के द्वार। व्यक्ति अनुभव करने लगता है तब स्वयं में अद्भुत-अपूर्व दशाएँ। तब मन तो हो जाता है मौन और चेतना करने लगती है पल-पल अहोन्त्य।

इस सारे परिवेश में हमें प्रवेश दिलाती है श्री चन्द्रप्रभ के आध्यात्मिक मार्गदर्शन से परिपूर्ण यह पुस्तक। निश्चय ही यह पुस्तक अध्यात्म की वह कुंजी है, जो हमारे मानव-मन को बहुत गहरे तक प्रभावित करती है और जीवन के अँधेरे कोनों में रोशनी के चिराग स्थापित करती है। श्री चन्द्रप्रभ के इन प्रवचनों में उनकी दिव्य शांति, साधना और अनुपम आनंद-दशा की सुगंधित बयार है।

पूज्य श्री चन्द्रप्रभ को सुनना अपने-आप में एक अद्भुत चमत्कार घटित करना है, सीधे तार से तार जुड़ते हैं, पर उन्हें पढ़ना भी किसी आह्लादकारी अनुभव से गुजरने के समान है। आप धैर्यपूर्वक इस पुस्तक के प्रतिदिन एक-एक अध्याय, एक-एक प्रवचन को पढ़ते जाइए, आपके सामने जीवन की आंतरिक गहराइयों की पर्तें स्वतः खुलती जाएँगी। मनुष्य की चेतना के विकास और निखार के लिए जितने उपाय हो सकते हैं, श्री चन्द्रप्रभ ने इस पुस्तक में उनका सटीक विवेचन किया है। इस पुस्तक को पढ़ना मानो आध्यात्मिक समृद्धि की कुंजी को पाना है। पहले आप इसे मन लगाकर पढ़िए, फिर मनन कीजिए और तब पहल कीजिए इसे अपने जीवन में आत्मसात् करने की। आप पाएँगे स्वयं में एक अद्भुत शांति, शुद्धि और मुक्ति की आनंदमयी दशा।

पूज्य श्री चन्द्रप्रभ की करीब 200 प्रवचन पुस्तकें हैं। आप उनका उपयोग कीजिए। हर पुस्तक अपने-आप में किसी प्रकाश-पुंज के समान है।

संबोधि धाम,
जोधपुर-4

— प्रकाश दफ्तरी

अनुक्रम

शांति का मार्ग : वर्तमान की अनुपश्यना	9
बोध : वृत्ति और प्रवृत्ति का	18
द्रष्टा-भाव : अध्यात्म की आत्मा	28
अंतर के पट खोल	40
वृत्ति, वृत्ति-बोध, वृत्ति-निरोध	48
भेद-विज्ञान : साधक की अन्तर्दृष्टि	58
साधना के सोपान	66
चरैवेति-चरैवेति	77
समर्पण की सुवास	84
परमेश्वर हमारे पास	93
एक ओंकार सत नाम	100
ॐ : सार्वभौम मंत्र	106
ध्यान और प्रेम : जीवन के दो आनंद-सूत्र	112
पहचाने स्वयं को – ‘कौन हूँ मैं’ ?	118
साधना का आदर्श : वीतराग	126
तुर्या : भेद-विज्ञान की पराकाष्ठा	131
सहज मिले अविनाशी	140
कैवल्य के द्वार पर	145

शांति का मार्ग : वर्तमान की अनुपश्यना

वह हर कार्य स्वीकार्य है, जिससे मन में शांति घटित हो;
वह हर कार्य त्याज्य है, जो अशांति का निमित्त बने।



बहुत साल पहले की बात है। मैं जीवन के उन तत्त्वों पर भी अपने वक्तव्य दे दिया करता था जिनका कि मुझे स्वयं कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था। वह जो कुछ बोलता, वह किन्हीं और किताबों को पढ़-बाँच कर कहा गया परिणाम होता। एक दिन मेरी अंतरात्मा ने मुझसे पूछा कि जो तुम कह रहे हो, क्या वह ज्ञात सत्य है? आत्मा और परमात्मा के बारे में ऊँचे वक्तव्य देना कठिन होते हुए भी आसान है, पर उनका अनुभव होना, हाँ, यही साधना है।

नीलगिरि की घाटियों में रहने वाली एक पवित्र योगिनी ने उन दिनों मुझसे कहा था कि ठीक एक साल बाद आपको जीवन में पहली योग-शक्ति प्राप्त होगी। मैंने तब उस योगिनी की बात को महज 'बात' भर समझा, लेकिन जब अपने हम्पी के प्रवास और साधना-काल के दौरान ऐसा हुआ, तो बात, बात न रही; बात भी किसी रहस्य की पूर्वानुभूति हो गई।

मैं यह बड़ी सहजता से अनुरोध करूँगा कि व्यक्ति का पहला लक्ष्य और पहला पुरुषार्थ मन की शांति से जुड़ा होना चाहिए। हम जीवन के चाहे जैसे लक्ष्य बनाएँ, पर जीवन के हर सहज और कठिन दौर में इस बात का शाश्वत बोध रहे कि कहीं हमारे मन की शांति खंडित न हो जाए। वह हर कार्य स्वीकार्य है जिससे मन में शांति घटित हो। वह हर कार्य त्याज्य है, जो हमारे लिए अशांति का निमित्त बने। मन की शांति से बढ़कर कोई स्वर्ग नहीं है। मन की अशांति स्वयं ही नरक है। हमें हर हाल में मन की शांति का स्वामी होना चाहिए। आत्म-प्राप्ति या परमात्म-प्राप्ति नंबर दो है। नंबर एक में है मन की शांति। मन की स्वार्थ और अज्ञान-रहित निर्विकार दशा ही शांति का मूल मंत्र है। हम अपने मन को पड़तालें, जीवन के प्रति बहुत सहज व

सरल होकर कि हमारे मन की, अंतरमन की कैसी स्थिति है, कैसी गति-दुर्गति है। जीवन के प्रति ईमानदार हुए बगैर जीवन के वास्तविक सत्य और शांति का स्वामी नहीं हुआ जा सकता। दुःखों से मुक्त होने के लिए अन्तर्मन को शांतिमय बनाना पहली अनिवार्यता है।

हमारी आँखों के सामने बहुत बड़ा आसमान है और बहुत बड़ा संसार। बीता हुआ एक बहुत बड़ा अतीत है और एक अनसुलझा। अज्ञेय बना एक बहुत बड़ा भविष्य। वर्तमान अतीत और भविष्य के अधर-झूल में है। हम सृष्टि के वर्तमान हैं, पर यह हमारी विडंबना है कि ज्ञान का उपयोग अपने अज्ञान को पहचानने के लिए न कर पाने के कारण ही हम अस्थिर हैं, मन के गलियारे में दिग्भ्रंत हैं। हमारे हाथ में केवल हथेली है; जीवन का सत्य, जीवन की शांति, जीवन का बोध नहीं।

मनुष्य का मन बड़ा विचित्र है। वह या तो अतीत की ओर अपने कदम बढ़ाता है या भविष्य की ओर अपनी पलकें टिमटिमाता है। वह यदि बेखबर है तो केवल वर्तमान से। जो वर्तमान के प्रति सजग है, वही अतीत भविष्य की उठापटक से मुक्त हो सकता है। जीवन का संबंध अतीत में भी रहा है और भविष्य से भी हो सकता है। जहाँ तक जीवन की समग्रता का प्रश्न है, उसकी धुरी तो 'वर्तमान' है।

मेरे देखे, जीवन समय के धरातल पर एक प्रवाह है। एक अविराम-अनिरुद्ध प्रवाह है। मनुष्य की व्याकुलता का कारण अतीत और भविष्य की यादों और कल्पनाओं में खोए रहना है। इसकी बजाय जब भी हम वर्तमान के साक्षी होंगे, हम शांति और निराकुलता के स्वामी होते जाएँगे। काश, मिल जाए हमें वह समझ और जीवन दृष्टि कि जिससे हम हर हाल में शांति और मुक्ति को बरकरार रख सकें।

मुक्ति का अर्थ किसी द्वीप पर जाकर बसना नहीं है जो संसार के ऊहापोह भरे सागर से ऊपर हो। मुक्ति मन की मृत्यु है। मुक्ति मन की समाधि है। मुक्ति समय का अतिक्रमण है। जिसका मन मिट गया, शांत हो गया, उस पर समय के कालचक्र का प्रभाव नहीं पड़ता है।

व्यक्ति मन से शून्य बने। वह उसे माँजने के चक्कर में न पड़े। वह मन को शांतिमय बनाने के लिए प्रयत्नशील हो। महावीर और बुद्ध जैसे पुरुष मन-मंजन के लिए संसार-मुक्त नहीं हुए, वरन् संसार और संन्यास के जाल बुनने वाले मन से मुक्त होने के लिए साधना-मार्ग पर आरूढ़ हुए। मन भला कोई दर्पण है, जो उसे राख या नीबू से मला जाए? वह तो अदृश्य प्रवाह है। उसमें तरंगे ही तरंगे हैं। वह शरीर की सूक्ष्म संहिता है। व्यक्ति उपरत हो शरीर से भी, मन से भी। यह उच्च अवस्था है। द्रष्टा-भाव/साक्षी-भाव इस स्थिति के पाने का आधार है।

हम स्वयं को शांति के मार्ग पर ले चलें। जो स्वयं शांतिमय होता है, वही अपनी ओर से दूसरों को शांति प्रदान कर सकता है। दूसरों को अपनी ओर से शांति,

प्रसन्नता और आनंद का सुकून देना परिवार, समाज और मानवता की सेवा ही है। हम दूसरों को शांति और प्रसन्नता देने की बजाय अपने जीवन के अच्छे-बुरे मापदंड का निर्णय उन्हें सुपुर्द कर देते हैं। किसी के द्वारा अच्छे कहे जाने पर हम स्वयं को अच्छा मान लेते हैं, उसके द्वारा किए जाने वाले गुणानुवाद के प्रति हम धन्यवाद से भर जाते हैं, तो बुरा कहे जाने पर स्वयं को बुरा मानते हुए उसके प्रति आक्रोश और उपेक्षा-भाव दृढ़ कर लेते हैं। कोई हमें बुरा कहे, यह कहने वाले की मज़बूरी रही होगी। उसकी मज़बूरी को हम अपनी मज़बूरी क्यों बनाएँ। कोई हमें अच्छा कहता है, यह उसकी भलमनसाहत होगी। उसके द्वारा भला कहे जाने पर हम स्वयं को क्यों अभिमान दें।

किसी के द्वारा अच्छा-बुरा कहा जाना यह उसकी अच्छी-बुरी दृष्टि का परिणाम है। हम किसी के द्वारा कुछ कहे जाने से वैसा थोड़े ही होते हैं, फिर व्यर्थ की राग-द्वेषजनित प्रतिक्रियाएँ क्यों? हम वास्तव में अच्छे हैं या बुरे, इसके तो हम स्वयं ही ज्ञाता हैं। दूसरों के बातूनी सम्मोहन में स्वयं का विवेक छोड़ देना स्वयं की वास्तविकता से धोखा खा बैठना है। स्वयं की वास्तविकता के लिए हमें स्वयं का जायजा लेना होगा। दुलमुल यकीन काम न आएगा। जो है, वही है; जैसा है, अपनी वास्तविकता में है। अध्यात्म स्वयं की वास्तविकताओं से साक्षात्कार है।

हम पहल करें अंतर-निरीक्षण की, मन को शांतिमय बनाने की। हम अपने जीवन को पढ़ें, निहारें। जीवन की असलियत खुद-ब-खुद सामने नजर आ जाएगी। मुझे सुनकर जगने वाली प्यास आरोपित है। असली प्यास जगती है स्वयं को सुनने-पढ़ने से। हम सुनें, पढ़ें स्वयं को, अपने आपको, ताकि यात्रा शुरू हो सके अपनी ही अभीप्सा के साथ, जीवन के अंतर-स्रोत को ढूँढ़ने की। इंद्रियजीवी होने के कारण शायद जीवन का सत्य बाहर ढूँढ़ते रहें, किंतु जब लौटकर स्वयं में झाँकेंगे, तो सत्य और शांति का स्रोत स्वयं में ही रुँधा-दबा पाएँगे। बाहर ढूँढ़ना मन की बहिर्यात्रा है, वहीं भीतर निहारना अंतर्यात्रा है। यह सीमा में असीम की, काया में कायनात की कोशिश है।

यथार्थ यह है कि जीवन के स्रोत स्वयं में हैं। माना कि इसके संबंध अतीत से भी रहे हैं, अभी भी हैं। जो 'है' उसके 'था' पर विचार न करें। अतीत पर विचार करते रहना केवल मन के अनर्गल जंगल में घूमने के समान है। जीवन का आनंद 'है' में होने में है, बाकी तो सब 'सूने घर के पाहुने' हैं।

यह सही है कि धरती पर हमारे पाँव हैं। धरती और ब्रह्मांड की विराटता हमारे सामने 'खुली हथेली' की तरह फैली हुई है। विराटता और उसकी बारीकियों को देखने के लिए हमारे भीतर अन्तर्दृष्टि चाहिए। दृष्टि जितनी प्रगाढ़ होगी, विराटता हमारे उतनी ही करीब होती जाएगी।

हम धरती को देखें, धरती के अतीत और वर्तमान को देखें। धरती के नीचे पाताल है और ऊपर आसमान। न पाताल का कोई अंत है, न आसमान का कोई छोर। जब परिवेश करवट बदलता है, तो आकाश में भी पाताल की संभावनाएँ बोल उठती हैं और पाताल में भी आकाश की। आकाश तो हर अस्तित्व का आधार है। आकाश कोरा है, शून्य है। आकाश का मतलब है खालीपन। पृथ्वी गोल गुंबज है, पाताल तो मंगल, शनि, नेपच्यून ग्रहों में भी है। वहाँ भी आकाश की रिक्तता है। यह हमारी तकदीर है कि हमें हरी-भरी जमीन भी मिली है और आकाश की विशालता भी। यानी आँगन भी और आँगन में आकाश भी। हमारा अस्तित्व तो दोनों के मध्य है। हम बीच की कड़ी हैं।

हम धरती के निवासी हैं। धरती सबकी है। धरती पर सबका अधिकार है, धरती को और अधिक सुंदर बनाने का हमारा दायित्व है। हम धरती को सुंदर कहाँ बना पाते हैं, हम तो धरती को बाँटने में, उसे नष्ट करने में, जमीन पर अधिकार करने के नाम पर झगड़ते रहते हैं। भला, जमीन के लिए कैसे झगड़े ? यदि कोई इस पर अधिकार जताएगा भी, तो भी कहाँ तक ? किस गहराई तक अधिकार जताएँगे ? भूलें हम अधिकार की भाषा। अधिकार की भाषा आसक्ति की भाषा है, हिंसा और अहंकार की भाषा है। हम अधिकार नहीं, प्यार की भाषा में आएँ। उदार दृष्टि अपनाएँ। हम स्वतंत्रता के प्रेमी हों, संकुचित जमीनी अधिकारों के नहीं।

जमीनें सदियों से रही हैं और अंतरिक्ष भी वही, किंतु आसक्ति और अधिकार की भूमिका में जीने वाले पता नहीं, अब तक कितने लोग अपना दम और दंभ तोड़ चुके हैं। संसार में एक इंच भी जमीन ऐसी नहीं है, जहाँ अब तक कम-से-कम दस लोग दफ़नाए न गए हों। जिस जमीन के लिए हम सब झगड़ रहे हैं, हकीकत में वह श्मशान और कब्रिस्तान है। अब तो अंतरिक्ष के भी बँटवारे हो चुके हैं। महाशून्य के भी अलग-अलग 'विभाग' ! बहुत खूब ! जो 'नहीं है' उस पर भी 'है' की सील।

ये सारी जमीनें अनित्यता को लिए हुए हैं। पता नहीं, हम अब तक कितनी बार यहाँ जन्म-जन्मकर मर-खप चुके हैं। मृत्यु हर बार जन्म का कारण बनी और इस सारी कार्यवाही का अगुवा हमारा संस्कारजनित आस्रवधर्मा चित्त और मन ही रहा। जमीन की पतें जितनी गहरी, हमारा अतीत भी उतना ही रहस्यमय। आकाश जितना फैला है, हमारा भविष्य भी वैसा ही अज्ञेय है, अज्ञात है।

धरती हमारा वर्तमान है, अतीत नरक है और भविष्य स्वर्ग। देवलोक भोगभूमि है और मनुष्यलोक कर्मभूमि। कुछ होने के लिए सिर्फ मनुष्यलोक है। पर मनुष्य है ऐसा, जो वर्तमान पर उतना विश्वस्त नहीं है, जितना अतीत और भविष्य पर, नरक और स्वर्ग पर। है तो धरती भी नरक और स्वर्ग जैसी, किंतु बिचौलिया फर्क यह है कि धरती और ब्रह्मांड हमारी आँखों के सामने हैं और स्वर्ग-नरक पीठ पीछे। जो

वर्तमान में जीता है, उसके कदम स्वर्ग और नरक, दोनों के पार हैं। वह जैसा है, जो है, उसी का स्वागत-सत्कार करता है। वह सिर्फ अपने शरीर का ही वर्तमान में उपयोग नहीं करता, अपितु मन को भी वर्तमान पर केंद्रित कर लेता है। वर्तमान पर किया जाने वाला केंद्रीकरण अतीत और भविष्य के भटकाव में जीने से बेहतर है। नरक के भय से या स्वर्ग के लोभ से जीवन के कृत्य न हों, वे हों जीवन को स्वर्ग बनाने के लिए, मुक्त निर्भय चेतना का स्वामी बनने के लिए।

सोच व्यर्थ है मृत अतीत का, व्यर्थ है आगे का चिंतन।

जीवन तो बस वर्तमान है, श्रेष्ठ इसी का अभिनंदन॥

जो लोग अतीत को ही सुमिरते रहते हैं, मन में अतीत का ही विश्लेषण करते रहते हैं, वे अपने घावों को कुरेद रहे हैं। वे मात्र यादों में खोए रहते हैं। उनके पास चिंतन नहीं, चिंता है। अच्छा अतीत भी आखिर हमें स्मृति का गम ही सौंपेगा। माथाखोरी से बचने के लिए ही तो अतीत को अनादि कहा जाता है। सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता भी अतीत के आदिम छोर को नहीं छू पाए। और एक हम लोग हैं जो सिर्फ अतीत के बारे में सोचते रहते हैं। अतीत को अगर जानेंगे भी, तो भी कितना! जानकर भी अनजान ही रहेंगे।

ऐसा ही भविष्य है। भविष्य भी बीती बातों से कम नहीं है। भविष्य अक्सर अतीत का ही प्रतिबिंब होता है। भविष्य अतीत की पुनरावृत्ति है, अतीत की पोथी का पुनर्संस्करण है। फिर भी, भविष्य को कोई नहीं जान सकता। भविष्य के लिए सिर्फ कल्पनाएँ की जा सकती हैं, या अधरों के आश्वासन दिए जा सकते हैं। इस बात से कोई अनभिज्ञ नहीं है कि कल्पनाएँ महज मन की मक्खियाँ हैं और भिनभिनाते रहना मक्खियों का स्वभाव है।

मन की कल्पना यदि एक ही लक्ष्य से जुड़ी रहती, तो शायद वह उस पक्ष की गहराई तक पहुँच जाता। मन तो हर कदम कदम पर कुआँ खोदना चाहता है। दस फुट तक खुदाई करने पर पानी न मिला, तो दूसरी जगह खोद-खाद शुरू कर दी। जो दस बीघा जमीन किसी समय खेत कहलाया करती थी, आज वह गड्डों से भरी है। दस गड्डों में बिखरी मेहनत का यदि एक ही स्थान पर निरन्तर प्रयोग किया जाए, तो लक्ष्य हासिल किया जा सकता है।

मनुष्य की स्थिति तो इस कदर है कि वह सौ को पाने के चक्कर में निन्यानवे को ठुकरा रहा है। हम जिँ समय की उठापटक से ऊपर उठकर। वर्तमान का साधक ज्योति बुझने से पहले उसकी रोशनी में जीवन की आध्यात्मिक संपदा को ढूँढ निकालने में कामयाब हो जाता है।

यदि हम मुक्त हो सकें, न केवल अतीत और भविष्य से, बल्कि वर्तमान से

भी, तो हम 'वह' न रहेंगे, जो आम तौर पर प्राणी जन्म-मरण के बीच धक्का खाते जीता है। हम शाश्वत बन जायेंगे – समय की हर सीमा के पार।

अतीत और भविष्य की उठापटक से मुक्त होने के लिए हम वर्तमान के अनुपशयी हों और फिर शाश्वतता की ओर कदम बढ़ाने के लिए हम धीरे-धीरे वर्तमान से भी उपरत होते जाएँ। अतीत, वर्तमान और भविष्य की उठापटक का नाम ही समय है। इन तीनों से मुक्त होने का नाम ही जीवन-मुक्ति है।

चूँकि हम शाश्वत बन सकते हैं, इसीलिए कह रहा हूँ। हमारे पास ऐसी क्षमता है, प्राणीमात्र के पास क्षमता है। हम बीज हैं। बीज फूल बन सकता है। फूल खिलेगा अपने निजत्व से। हम डूबें अपनी समग्र निजता में।

हम ध्यान में डूबें। अपने साथ एकाकार हों। अन्तर्मन से, अन्तर्हृदय से एकाकार हों। हम स्वयं को शांतिमय बनाएँ, आनंदमय बनाएँ। हम अतीत की फिक्र न करें। अतीत यानी जो हो चुका, धारा बह गई। जो हो गया, सो हो गया। चाहे वह अच्छा हुआ या बुरा। जो गोली बंदूक से निकल चुकी, उसके बारे में क्या सोचना। सोचना है, चिंतन-मनन करना है तो उस पर करो, जो नजर के सामने है। 'बीती ताहि बिसारि दे' – मन की शांति का यह सबसे सरल मंत्र है।

बीत गई सो बात गई, तकदीर का शिकवा कौन करे।

जो तीर कमाँ से निकल गया, उस तीर का पीछा कौन करे ॥

जो बीत गया, सो अतीत हो गया। मनीषियों की सलाह है – बीती ताहि बिसारि दे। जो है, उसका तहेदिल से स्वागत करें। जो है, वह स्वीकार्य है। संभव है, प्राप्त चीजें हमें संतुष्ट न कर पाएँ, पर भगवान के प्रति कृतज्ञता निवेदित करें, क्योंकि जो मिल रहा है, वह भाग्य से एक रती भी कम नहीं मिल रहा है। संभव है, इससे और बदतर स्थिति आ सकती थी। यदि आपके पास पहनने को जूते नहीं हैं, तो शिकायत मत कीजिए। कइयों के पास तो पाँव ही नहीं हैं। संतुष्ट और आनंदित रहना सीखें।

भविष्य की झलकियों को अपनी आँखों की टिमटिमाहट से दूर रखें। जो अभी है ही नहीं, उसके बारे में जो 'है' उसे दाँव पर क्यों लगाना? भविष्य जिस रूप में भी वर्तमान बनेगा, प्रसन्नतापूर्वक उसकी अगवानी करेंगे। हम निहारें बीज को; उसे सींचें। फल वही निष्पन्न होगा, जो उस बीज से संभावित है। बीज कैसा था, इसका परिचय हम फल से ही पा सकते हैं। हम आकाश में थेंगले लगाना छोड़ें, छलाँगें खूब मार लीं, अब जिएँ वास्तविकता में।

मैंने कहा वर्तमान के लिए, किंतु यह सिर्फ इसलिए ताकि व्यक्ति उन उलझनों से मुक्त हो सके, जिनका संबंध अतीत-भविष्य के अंतर्द्वन्द्व से है। वर्तमान के उपयोग

का मतलब यह नहीं कि अतीत और भविष्य ढकोसले हैं इसलिए खूब खाओ, पीयो, मौज उड़ाओ। कृपया संयम रखें, अन्यथा मेमना जितना जल्दी मोटा-ताजा होगा, खतरा उतना ही अधिक सिर पर मँडराएगा।

साधक के लिए वह मन ही ध्यान, योग और समाधि का द्वार बनता है, जो वर्तमान का अनुपश्यी हो। जिस मन की आपाधापी से हम इतने संत्रस्त हैं, यदि वह वर्तमान का द्रष्टा और वर्तमान के लिए ही सक्रिय हो जाए, तो सत्य और शांति की किसी भी संभावना को आत्मसात् करने के लिए उससे बेहतर और कोई साधन न बनेगा। महावीर द्वारा वर्तमान की अनुप्रेक्षा और बुद्ध द्वारा वर्तमान की विपश्यना उनकी मनोमुक्ति के प्रमुख आधार बने।

मन और समय का अतिक्रमण करने के लिए जो हो रहा है, उसको होने देना है। यह भवितव्य है, किंतु जहाँ भवितव्य को कर्तव्य मान लिया जाता है, वहाँ वर्तमान भी बंधन का आधार बन जाता है। सत्य और शांति को किसी कृत्य या क्रिया से नहीं, वरन् स्वभाव और होने से पाया जाता है। वह है, सिर्फ उसमें होना है। आत्म-स्वीकृति में ही परमात्मा की पदचाप सुनाई दे जाती है। जो है, यदि उसे समग्रता से ढूँढ़ा जाए, तो वह नजर के सामने है – खोजी होय तो तुरतै मिलिहों, पल भर की तलाश में; मैं तो तेरे पास में।

वह वर्तमान में है, वर्तमान में जीना योग का प्रवेश-द्वार है। योग का अनुशासन वर्तमान में जगना है। जागृति सुषुप्ति और स्वप्न से बेहतर स्थिति है। जागरण ही तुर्या-अवस्था के फूल खिलाता है। मन का सोना ही अंतर्हृदय में उतरने का मार्ग खोलता है। मन को जागकर ही देखा-परखा जा सकता है। जो जगा, उसका मन सो गया। मन को विश्राम देकर ही जीवन को नई स्फूर्त ऊर्जा प्रदान की जा सकती है। मन का उपयोग करना चाहिए, पर दिन-रात नहीं, आवश्यकतानुसार। आवश्यकतानुसार उपयोग करो, पुनः विश्राम। मन को विश्राम का, रिलैक्सेशनशिप का गुर आना चाहिए। मन का कैसे उपयोग किया जाए, यदि आदमी को इसकी कला आत्मसात् हो जाए, तो जीवन की समस्त समस्याओं का स्वतः निदान हो जाए।

हम मन को इधर-उधर की उठापटक से मुक्त करने के लिए वर्तमान के साक्षी बनें और फिर मन की चंचलता के शांत होने पर अतिमनस् की ओर उठें। मन के भी पार, परा तत्त्व की ओर, चैतन्य की ओर, साइकिक पॉवर की ओर।

योग की पहली शर्त मन की अडिगता है। मन का स्थिर और शांतिमय होना योग का अनिवार्य पहलू है। मन की सारी डिगाहट अतीत और भविष्य के इशारे पर है। डिगता-झूलता मन कभी 'सम्यक् दर्शन' का सूत्रधार नहीं बन सकता। वर्तमान

में, प्राप्त क्षण में मन का जगना जीवन और जीवन की समस्त आध्यात्मिक समस्याओं से मुक्त होने का द्वार है।

जो ऊपर उठ चुका है समय से, वह मन से भी उपरत हो चुका है। मन के पार जाने वाला ही चैतन्य-जगत् के आनंद में निमग्न होता है। ध्यान स्वयं से स्वयं का मिलन है। अपने-आप से मिलना ही ध्यान है। औरों से मिलना बहुत आसान हो गया है। स्वयं से मिलने की न हमें फुरसत है, न ही फिक्र। हम मन को वर्तमान पर केंद्रित करें और स्वयं को वर्तमान क्षण पर।

मन की शांति पाने का ध्यान से बढ़कर और कोई मार्ग नहीं है। यह मार्गों का मार्ग है, हर द्वार का प्रथम और अंतिम द्वार है।

यदि ध्यान में जीना चाहते हो, ध्यान में उतरना चाहते हो, तो अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना – दोनों न हों। दोनों को लुप्त हो जाने दो, मिट जाने दो। केवल मौन, साक्षीभाव। अपने में उतरो, तो केवल अपने होकर उतरो। अपने साथ किसी और को न ले जाओ। न पत्नी को, न पति को, न बच्चों को, न पड़ोसी को, न दुकान को, न मकान को। सबसे निरपेक्ष-निर्लिप्त होकर केवल इस मनोदशा से भीतर उतरो कि मैं स्वयं को शांतिमय बनाने के लिए, अपने-आप से मुलाकात करने के लिए स्वयं में उतर रहा हूँ, स्वयं के साथ एकाकार हो रहा हूँ। जब हमारे आमने-सामने कुछ न होगा, न आकर्षण, न विकर्षण, न शुभ, न अशुभ, न कोई चंचल तरंग; तब न तो रहेगा सागर की लहरों की तरह आता-जाता समय, और न रहेगा मन का अशांत वातावरण। ऐसे क्षणों में जो कुछ भी होगा, वह मात्र व्यक्तित्व होगा, शांति और ऊर्जस्वित स्वरूप होगा। जब कुछ भी न होगा, तभी हम ध्यान में होंगे। स्वागत है इस चैतन्य दशा का, जीवन के अमृत महोत्सव का।

कहते हैं भगवान बुद्ध वृक्ष की शीतल छाया तले आसीन थे। वे सहज अपने अंतर्मौन में तल्लीन थे। अचानक भगवान को एक रहस्यमयी मुस्कान से आपूरित देखकर भगवान के ही एक शिष्य साधक आनंद ने पूछा –

‘भंते ! आखिर किस बात पर आप अचानक मुस्करा उठे, जबकि पूरा वातावरण शांत-मौन है।’

भगवान ने छलछलाती नदी की ओर संकेत करते हुए एक गहरी निःश्वास छोड़ी। बोले, ‘वत्स ! देखते हो उसे ? कल्पनाओं का इंद्रजाल तो वह लंबा-चौड़ा बुन रहा है, पर वह यह नहीं जानता कि उसकी सारी कल्पनाएँ अधूरी ही धरी रह जाएँगी। मृत्यु उसकी ओर निरंतर बढ़ रही है, पर मन की उधेड़बुन और कल्पनाओं के कोलाहल में उसे मृत्यु की पदचाप कहाँ सुनाई दे पा रही है !’

शिष्य-संघ ने पाया कि प्रभु की वाणी में दया और करुणा थी। सबने सुना,

बस, सात दिन और... ?

युवक को भगवान की वाणी से अवगत कराया गया। अपनी मृत्यु की बात सुनते ही स्तब्ध हो उठा वह। पसीने से तरबतर। खंडहर हो गए थे मन के रचे समस्त महल-महराब। उसने सीधे भगवान की शरण स्वीकार की। रोते-कलपते देख, आखिर उसे भगवान ने कहा, 'रोने से कुछ न होगा प्रिय! मन को शांत कर स्वयं की सार्थकता पर पुनर्विचार करो।'

भगवान् ने उसे समझाया कि मृत्यु से सत्य नहीं, मात्र स्वप्न मिटते हैं। भगवान् की वाणी मर्म तक सीधी भीतर उतर गई। मन संसार से कमलवत् ऊपर उठ गया। अब शरीर उसके लिए मंदिर था और विचार श्रीफल। प्रदीप्त हुई थी एक अंतर-लौ जीवन को उजागर करने को। आयुष्य की रेखा मात्र सात दिन की और थी। प्रतिपल मृत्यु का समय करीब आ रहा था, पर मृत्यु हो न पाई; निर्वाण पहले हो गया, विषपाई स्वयं अमृत हो गया।

घटना मात्र घटना नहीं, वरन् स्वयं की मनःस्थिति को देखने की, पहचानने की, मुक्त होने की प्रेरणा है। हम वर्तमान के साधक हों। वर्तमान परिस्थिति के, वर्तमान क्षण के, वर्तमान स्वरूप के अर्थात् वर्तमान के साक्षी और अनुद्रष्टा हों। **वर्तमान की अनुपश्यना ही मन की शांति का सहज सरल मार्ग है।** हम अंतरतम को पहचानें, स्वयं में आत्म-शक्ति और आत्म-विश्वास का संचार करें। प्रकाश को हमारी जरूरत है और हमें प्रकाश की। हम स्वयं में ज्ञान और विश्वास के प्रकाश को, सत्य और शांति के आलोक को स्वयं में साकार हो लेने दें। आज भले ही अंधकार हो, पर जिनकी आँखों में प्रकाश की अभीप्सा और प्रार्थना है, प्रभात उन्हीं के कदमों तले है। संसार को हमसे प्यार है, बशर्ते हम आलोकित जीवन के स्वामी हो जाएँ।



बोध : वृत्ति और प्रवृत्ति का

वह प्रवृत्ति खतरनाक है, जिसका असर
हमारी मनोवृत्तियों पर पड़े।



बहुत साल पुरानी बात है। मेरे माता-पिता ने संन्यास लिया, उनके साथ मेरे छोटे भाई ने भी। भगवत्-कृपा! मेरे जीवन में भी संन्यास का वरण हुआ। संन्यासी-जीवन में वर्ष बीते, पर जब-जब भी अपने अंतर्मन और उसके आस्रवों को निहारा, लगा कि अभी तक संन्यास अपने सही अर्थों में साकार नहीं हुआ। मैं संसार में हूँ, संसार मुझमें है। कहने को मैं संसार से मुक्त हो गया, पर मैंने एक ओर संसार देखा, जो मेरे अंतर्मन का संसार रहा। अरे, जब तक मन का संसार न छूटे, तब तक बाहर का संसार आकर्षण-विकर्षण का, राग-द्वेष का, सुख-दुःखजनित अहसासों का मकड़जाल बुनता ही रहता है। जैसे ही भीतर के संसार को पहचाना, बाहर का संसार स्वतः पहचान लिया गया। जैसे ही भीतर के संसार के प्रति अंतर्दृष्टि खुली, बाहर के संसार के रहस्य स्वतः उद्घाटित हो गए।

अंतर्मन के घर में भला क्या नहीं है? पत्नी का राग है, बच्चों का राग है, भाई-बहन-परिवार का भाव है, मेरे-तेरे का संत्रास है, सुख-भोग की आसक्ति है, व्यक्ति और मत-मतांध का आग्रह है। माना कि इनसे मुक्त होने के बाद का जगत् इससे बिल्कुल भिन्न, बिल्कुल अभिनव, समग्रतः गूढ़, आनंदपूर्ण है, पर पहले मन के इस आसक्त संसार से मुक्त हों। मेरे देखे, संसार के दो रूप हैं – एक, चित्त का संसार और दूसरा, चित्त के बाहर दृश्य संसार। चित्त का संसार बाहर के संसार से ज्यादा सूक्ष्म, किंतु विस्तृत है। जीवन और जगत् के सारे संक्लेशयुक्त परिणाम चित्त से ही जुड़े हुए हैं। इसलिए नज़र आने वाला संसार वास्तव में चित्त के अदृश्य संसार का प्रतिबिंब है।

चित्त के संसार की पैठ इतनी गहरी है कि आँखों का उससे कोई वास्ता नहीं

रह पाता। आँख तो चित्त की खिड़की है। आँख बंद कर लेने से बाहर का संसार उसके लिए अदृश्य-सा हो जाएगा, किंतु चित्त के धरातल पर भीतर का संसार तो तब भी रहेगा। हाँ, यदि चित्त का रूपांतरण हो जाए, उसका तख्ता उलट जाए, तो आँखों के खुले या बंद रहने का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। भला कमल की पंखुरियों के खुल जाने के बाद कीचड़ से उसका क्या संबंध ?

चित्त का संसार जन्म-जन्म के संसार और घटनाक्रमों का कारवां है। आँखों में प्रतिबिंबित होने वाले संसार को मैं प्रवृत्ति कहूँगा और चित्त के संसार को वृत्ति। आध्यात्मिक परिणामों के लिए प्रवृत्ति की बजाय वृत्ति अधिक प्रभावी है। अच्छी वृत्ति पुण्य कहलाती है और बुरी वृत्ति पाप। प्रवृत्ति कृत्य है। प्रवृत्ति बुरी होते हुए भी वृत्ति अच्छी हो सकती है, पर प्रवृत्ति अच्छी होते हुए भी वृत्ति बुरी हो सकती है। शत्रु द्वारा पिलाए गए जहर से यदि किसी की जान में जान आ जाए और चिकित्सक द्वारा शल्य-चिकित्सा के वक्त किसी की जान निकल जाए, तो दोनों की मनोदशा का ही मूल्यांकन करना होगा। शत्रु मारना चाहता है, पर वह कहेगा, अरे! यह तो बच गया। चिकित्सक बचाना चाहता है, पर वह कहेगा, ओह, बेचारा मर गया।

मुक्ति का माधुर्य वृत्ति और प्रवृत्ति, दोनों के पार है। दुष्प्रवृत्ति अपराध है, पर दुष्वृत्ति पाप है। दुष्वृत्ति का परिणाम स्वयंभोग्य है, किंतु दुष्प्रवृत्ति के लिए न्यायालय की कानून-संहिता दंड देती है। चपत चाहे मित्र की हो या शत्रु की, वह चपत तो कहलाएगी ही। मुक्ति वृत्ति और प्रवृत्ति यानी पाप और पुण्य दोनों के पार है।

बड़ी प्रचलित कहावत है – ‘मुख में राम बगल में छुरी’ यानी प्रवृत्ति अच्छी, किंतु वृत्ति बुरी। यदि वृत्ति बुरी है, तो प्रवृत्ति अच्छी होते हुए भी बुरी ही होगी। इसलिए प्रवृत्ति की बुराई को हटाने से पहले वृत्ति में रहने वाली बुराई को दूर करें। प्रवृत्ति में लाया जाने वाला परिवर्तन तो मात्र बैल का खूँटे बदलना है। वह जीवन-रूपांतरण का आधार नहीं है। जीवन में रूपांतरण तो वृत्तियों के आमूलचूल परिवर्तन होने की घटना है। मेरा जोर वृत्तियों के प्रति जागने के लिए है। मैं निर्वृत्ति में विश्वास रखता हूँ, निरप्रवृत्ति में नहीं। प्रवृत्ति घातक नहीं होती। प्रवृत्ति यानी कर्म। गीता में कृष्ण कर्मयोग पर बल देते हैं। वे यदि निषेध करते हैं तो कर्म-फल की आकांक्षा का निषेध करते हैं क्योंकि कर्मफल की आकांक्षा वास्तव में मन की वृत्ति है। पतंजलि का प्रसिद्ध सूत्र है – योगः चित्तवृत्ति-निरोधः।

चित्त-वृत्तियों का शांत होना ही योग है। योग वह निरोधक है, जो वृत्तियों के जन्म पर अवरोध खड़ा कर देता है। चित्त की वृत्तियाँ चित्त का व्यापार हैं। जब तक मनुष्य वृत्तिप्रधान रहेगा, मानसिक व्यापार उसके अस्तित्व के हर पहलू से जुड़ा

रहेगा। मानसिक व्यापार ही सुख-संत्रास, हर्ष-घुटन के फायदे-घाटे का सौदा तैयार करता है। वह एक में टिक नहीं पाता। 'तू तो रंडी फिर बिहंडी' – वेश्या की तरह मन की प्रवृत्ति है। मन का एक में लगना ही उसकी निमग्नता है। एक पति या एक पत्नी में मन का लगना प्रेम है, एक गुरु के प्रति उसका समर्पित होना श्रद्धा है और एक परमात्मा में डूब जाना मोक्ष है।

पर मन चंचलता और भटकाव के रास्तों से गुजरता रहता है। मन के चलते मनुष्य जीवनभर मात्र मन का ही अनुगमन करता है, पर एक बात तय है कि मन जीवन का सर्वस्व नहीं है। मन जीवन की समग्रता का एक हिस्सा है। देह और मन – दोनों एक दूसरे से संबद्ध और अन्योन्याश्रित हैं।

कोई भी व्यक्ति तब तक देह-धर्मों से पूरी तरह उपरत नहीं हो सकता, जब तक कि वह मन के धर्मों से निरपेक्ष न हो जाए। काम को विकार मानकर तजने की बात सदा से कही जाती रही है, पर देह और मन के धर्म जब तक जीवित हैं, तब तक ब्रह्मचर्य की बात भी केवल एक आरोपण भर होगी, आत्मसात् नहीं।

ध्यान रखें, देह के धर्म पर अंकुश लगाना थोड़ा आसान है, पर मन के धर्म ! बड़े विचित्र हैं। आम आदमी तो क्या, योगीजनों को भी मुश्किल हैं। **मन के धर्मों पर विजय प्राप्त कर लेना ही योग है, मन के धर्मों के आगे परास्त होना ही भोग है। वहीं देह और मन के धर्मों का पुनः-पुनः पोषण करते रहना, उनकी दासता स्वीकार कर बैठना ही रोग है।**

प्रश्न चाहे रोग का हो या भोग का अथवा योग का, सबके पीछे छिपा है मनुष्य का मन, वृत्ति-संस्कारों से भरा मन, चित्त। इसलिए मात्र प्रवृत्तिशून्य हो जाने से कुछ न होगा, जब तक वृत्तिशून्य न बनोगे। यदि प्रवृत्ति निरुद्ध भी हो गई, तो यह जरूरी नहीं है कि वृत्ति भी समाप्त हो गई। अनेक लोग प्रवृत्तियों की आपाधापी से तंग आकर संन्यास का बाना धारण कर लेते हैं। वे जंगलों और गुफाओं में भी चले जाते हैं। भीड़ से बचकर गुफा में चले गए, परंतु भीड़ छोड़कर भी अपने साथ विचारों में भीड़ को साथ लिए फिर रहे हो। बाजार की भीड़ का क्या ? आँख बंद कर लो, भीड़ में भी एकांत हो गया।

गुफा-वास ग्रहण कर लेने मात्र से भला कोई मन की आसक्ति क्षीण थोड़े ही होती है। आसक्ति का त्याग गुफा में जाकर नहीं होता, वरन् पहले आसक्ति से उपरत हुआ जाता है। पश्चात् गुफावास सार्थक होता है, वरना बैठे रहोगे गुफा में और गढ़ते रहोगे संसार का मकड़जाल। मन की उधेड़बुन तो तब शांत होती है, जब पहले वहाँ से अनासक्ति और विरक्ति हो जाए, जहाँ से तुमने अपना कदम बढ़ाया

है, वरना संन्यास संसार की उस कमी की ही आपूर्ति करने में खर्च होगा, जिसे तुम संसार में रहकर न पा सके – यश, प्रतिष्ठा, नामगिरी, ऐश, आराम। संन्यास तो सात जन्मों के पुण्य से ही उदय में आता है, पर उसकी सार्थकता तभी है जब वह व्यक्ति की निर्वृत्ति का आधार बने। व्यक्ति वृत्ति, विकल्प, स्मृति, कल्पनाओं के जाल से बाहर आए।

मनुष्य की यह खोपड़ी बहुत छोटी-सी है। पर इसमें बहुत बड़ा संसार और बहुत बड़ा बाजार बसा है। विचारों की न जाने कितनी दुकानें इसमें खुली हुई हैं। हर दुकान पर नया माल है। यदि इस बाजार को बारीकी से निहारें, तो चकरा उठेंगे। दुकानों को ध्यानपूर्वक देखो, नकामी दुकानों के सटर गिरा दो। दुकानों की संख्या कम हो जाएगी। मन की दुकानदारी और संसारबाजी से स्वयं को बाहर लाओ। देह-पिंड और मन की विपश्यना करो। मन के साक्षी भर बनो। मन के पास संस्कारों का, वृत्तियों का इतना प्रवाह है कि कब कैसी प्रवृत्ति करवा दे, पता नहीं। कहते हैं –

एक ही उल्लू काफी है, बरबाद गुलिस्ताँ करने को।

हर शाख पे उल्लू बैठा है, अंजामे-गुलिस्ताँ क्या होगा ?

खोपड़ी हमने इतनी भर रखी है कि एक विचार को दूसरे विचार से मिलने की फुरसत नहीं। सारे विचार एक-दूसरे के विरोधी; विचारों की भीड़ इस कदर कि साँस लेना भी मुश्किल; जरा मेहरबानी कर पहले शून्य और शांत करो स्वयं को, वरना उमस और घुटन में जीना मुश्किल हो जाएगा। पता है 'हार्ट अटैक' क्यों होता है? इसी मानसिक घुटन के कारण, परस्पर विरोधी विचारों के बोझ के कारण। मन की उधेड़बुन ही तनाव का कारण बनती है और तनाव ही 'हार्ट अटैक' और 'ब्रेन हेमरेज' का कारण बनता है।

बोझ हलका करो। यदि स्थान, परिवेश या और कुछ बदलना उपयोगी लगे, तो कोई हर्जा नहीं, पर भीतर का भार नीचे गिर जाना चाहिए। चित्त निर्भार हो। चित्त से बोझ का हटना ही शांति और मुक्ति है। मुक्ति ही जीवन की शक्ति है।

वृत्तियों से मुक्त होने के लिए वनवास आवश्यक नहीं है, वृत्तियों की निरर्थकता का बोध जरूरी है। संन्यास लो, पर संन्यास की पूर्व भूमिका तो पहले तैयार कर लो। महावीर ने गृहस्थ-वर्ग में एक स्नातक श्रेणी बनाई 'श्रावक' की। घर में बच्चा पैदा हुआ कि हम कहने लग गए – एक 'श्रावक' बढ़ा। श्रावक से जीवन-बोध के बाद ही घटित होता है। लोग जलसा तो करते हैं श्रमणत्व का, और अभी तक 'श्रावक' का पता ही नहीं। श्रमण बनने से पहले सच्चे श्रावक बनें। जो व्यक्ति अपने जीवन में सच्चा श्रावक नहीं बन पाता, वह सच्चा श्रमण भी नहीं बन सकता। श्रावक होना

श्रमण होने की अनिवार्य भूमिका है। मात्र जनेऊ पहनने से ब्राह्मणत्व आत्मसात् नहीं हो जाता। पहले स्रोतापन्न बनें, फिर कहीं बुद्धत्व की पहल प्रारंभ होगी।

कहीं ऐसा न हो कि संन्यास लेने के बाद संसार के सपने देखते रहें। यदि ऐसा हुआ तो वह संन्यास नहीं, संसार ही है। संन्यास में संसार की आँख-मिचौली आत्म-प्रवंचना है। यदि संसारी संन्यासी के ख्वाब सजाए, तो उसे बधाई है, क्योंकि व्यक्ति ऊँचे स्तर को निहार रहा है। पर उसे क्या कहेंगे, जो साधना के रास्ते पर आरूढ़ होने के बाद आगे बढ़ने की बजाय पीछे लौटना चाहता है, तराई में! यह साधु की, साधक की गिरावट है।

जीवन का स्वरूप बड़ा विचित्र है, बड़ा गहरा है। व्यक्ति बाहर से संन्यासी होकर भी भीतर से संसारी हो सकता है और बाहर से संसारी दिखता हुआ भी अंतरंग में संन्यास को पल्लवित कर सकता है। श्रीमद् राजचन्द्र ऐसे ही अमृत-पुरुष हुए। भीतर के संन्यासी, भीतर के मुनि। ऐसा कोई साधक बने, तो सार्थकता है। वरना —

जब जवां थे तो न की कदरे जवानी की।

अब हुए पीर तो याद अपना शबाब आता है॥

कहीं ऐसा न हो कि सब छोड़-छाड़कर भी उसी को याद करते रहो, जो छोड़ा है। किसी प्रवृत्ति को छोड़ना कठिन है, पर उतना दुष्कर नहीं है, जितना छोड़े हुए की पकड़ को छोड़ना। लोग विवाह-मंडप में भी धूमधाम से प्रवेश करते हैं, तो वैराग्य-मंडप में भी बैड-बाजे के साथ। भला, विरक्ति के बाद वर्षादान कैसा! 'पशुओं की चीत्कार सुनी, सृष्टि ने आह्वान किया, जीवन में क्रांति घट गई और अरिष्टनेमि का रथ गिरनार (संन्यास) की राहों पर चल पड़ा'। लेकिन तुम्हारे दुराग्रह ऐसे कि हम ऐसे सहज-सरल सत्य को स्वीकार नहीं कर पाते और किसी परंपरा-विशेष को निभाने के लिए सहज-सरल स्वरूप पर भी लीपापोती कर बैठते हैं।

ध्यान रखो, दीक्षा जीवन-रूपांतरण की दास्तान है, शोभा-यात्रा निकालने का महोत्सव नहीं। लोग संन्यस्त होकर भी पूर्व जीवन का दंभ भरते हैं। जो व्यक्ति साधुता के परिवेश में जीते हुए यह कहता है कि मैंने घरबार छोड़ा, लाखों-करोड़ों की जायदाद छोड़ी, मैंने यह छोड़ा, वह छोड़ा, तो वह त्याग का भी उपभोग कर रहा है। क्या तुम इसे छोड़ना कहोगे? छोड़ा कहाँ! अभी तक तो पकड़े बैठे हो। त्याग की याद को पकड़े बैठे हो। मूल्य वस्तु के संग्रह और त्याग का नहीं है, उसकी पकड़ का है। एक सम्राट भी अपरिग्रही हो सकता है और एक भिक्षुक भी परिग्रही। 'मुच्छा परिग्रहो वुत्तो' परिग्रह का संबंध मूर्च्छा से है। मूर्च्छा जिसके पास जितनी अधिक होगी, वह उतना ही बड़ा परिग्रही होगा। मूर्च्छा इंसान को भिखारी बनाती है। भिखारी

जीवन-भर कोड़ी-कोड़ी जोड़ता रहता है और मूर्च्छित भी जोड़ने का परिग्रह संजोता रहता है, पहल हो अपरिग्रह की, अमूर्च्छा की।

पकड़ से मुक्त होने का नाम ही वीतरागता की पहल है। त्याग अच्छा है, किंतु त्याग की स्मृति को संजोना त्याग की अच्छाई से सौ गुना बुरा है। त्याग प्रवृत्ति है, उपभोग भी प्रवृत्ति है, किंतु उसकी पकड़ ही वृत्ति है। भोग न तो अच्छे होते हैं, न बुरे। जैसी दृष्टि और वृत्ति होती है, उसके लिए वे वैसे ही होते हैं। तुम तने और पत्तों की बजाय जड़ की ओर चलो, वृत्ति-मुक्त बनो। जो छूट जाए, वह छूट ही जाएगा। छोड़ने के प्रयास से त्याग की स्मृति रहेगी, मगर जो चीज जी से हट चुकी है, उसका जिक्र भी न आएगा जुबाँ पर।

कहते हैं : तांज्रन और इकीडो एक बार किसी कीचड़ भरे रोड़ से सफर कर रहे थे। रास्ते में बहुत तेज बारिश हुई थी और सारा रास्ता कीचड़ से लथपथ था। चलते हुए एक मोड़ आया, जहाँ उन्हें एक प्यारी-सी लड़की मिली। तांज्रन को लगा कि यह लड़की कीचड़ के रास्ते में फँस गई है और अपना रास्ता तय नहीं कर पा रही है। तांज्रन ने उससे कहा, आ जाओ बेटा।

तांज्रन ने उसका हाथ पकड़ा और कीचड़ के रास्ते से उसे पार लगा दिया। हालांकि इकीडो उस समय कुछ न बोला, पर जब वे किसी सराय में पहुँचे, तो रात को सोने से पहले इकीडो ने तांज्रन से कहा, हम संत हैं और हमें महिलाओं के पास नहीं जाना चाहिए और उसमें भी मुख्य रूप से युवा और उस जैसी प्यारी युवती के पास तो कतई नहीं। यह खतरनाक है। मुझे बताओ, तुमने ऐसा क्यों किया ?

तांज्रन ने कहा, मैं तो उस लड़की को वहीं छोड़ आया था, क्या तुम उसे यहाँ तक ढोकर लाए हो ?

ऐसा होता है; जिसकी दृष्टि देह के स्वरूप पर टिकी रहती है उसके लिए स्त्री और पुरुष के भेद हैं, और जब तक ये भेद हैं, तब तक खतरे भी हैं। जवानी में ही नहीं, बुढ़ापे में भी। पर जिस साधक की नजरें देह से ही ऊपर उठ गई हैं, उसके लिए क्या स्त्री और क्या पुरुष। वह स्त्री को कीचड़ पार नहीं करा रहा, अपितु 'किसी' को पार करा रहा है। 'ओह, तो तुम उस लड़की की बात कर रहे हो।' तांज्रन ने मुस्कराते हुए कहा, 'मित्र! यदि स्त्री भी मानें, तो साधक के लिए तो हर स्त्री माँ है। 'मातृवत् परदारेषु' जैसी उक्ति उसके लिए नहीं है। उसके लिए तो 'मातृवत् सर्वदारेषु' सही है। क्या बुद्ध और तीर्थंकर छॉट-छॉटकर पार लगाते हैं कि यह स्त्री, वह पुरुष ? यदि किसी को पार लगाया जा सकता है, तो लगाओ। स्त्री-पुरुष का भेद तो आम आदमी के लिए है। मुक्त साधक तो इस भेद से मुक्त है। राम ने निष्कासित किया,

वाल्मीकि ने आश्रय दिया, तो ऐसा करके ऋषि ने अपने मुनित्व का ही परिचय दिया।

तुम स्त्री के साथ संसार बसाना खतरनाक समझते हो, तो मत बसाओ, किंतु उसके लिए घृणा की कटारें भी मत चलाओ। तुम्हें खतरा कोई स्त्री से थोड़े ही है। तुम्हें अगर खतरा है तो अपने-आप से है। मन में पलने वाली, मन में दबी-पैठी अपनी कुंठित-दमित वृत्तियों से, विकारों से खतरा है। बचना है, तो उनसे बचो। वे खतरे की घंटियाँ हैं। गिरते तुम हो, स्त्रियाँ नहीं गिरतीं। उन्हें तुम निमित्त कह सकते हो। अगर निमित्त गिराता है, तो इसका मतलब निमित्त ज्यादा प्रभावी है तुम्हारा संन्यास, तुम्हारी समझ, तुम्हारा बोध, तुम्हारे संकल्प कम। अगर ऐसा है, तो स्त्रियों से जरूर तुम्हें खतरा है। पर एक बात और, फिर तुमसे भी स्त्रियों को खतरा है। फिर तो दोनों ही खतरनाक हुए। माना, वे तो खतरनाक हैं ही, कम-से-कम तुम तो खतरनाक मत बनो। तुम्हें संत बनना है, तो ऐसा बनो कि विपरीत निमित्त सदा तुम्हारी साधुता और शुद्धता की कसौटी बने। कोशाएँ तो आएँगी, विचलित भी करेंगी, पर तुम स्थूलभद्र बनो।

मेरे देखे, जो कच्चा है, वह जल ही जाना चाहिए; पर जो पक्का है, वह निखर ही आना चाहिए। ऐसे लोग भले ही गिनती के होंगे, पर वे गिनती के लोग भी वह कुछ कर जाएँगे, जो अपने बहुत होकर भी नहीं कर सकते। साधुता कठिन है, सचमुच कठिन है। साधुता का अभ्यास सरल है, पर साधुता कठिन है। जीवन की साधुता कठिन है। साधुता जीवन की आभा बने। साधुता को अंतर्जगत् में लाएँ। अपनी मानसिक दृढ़ता और आत्मशक्ति व आत्मबोध के द्वारा मन से ही निष्कासित कर दें असाधुता को, मन की हवश को।

हमारे लिए वह प्रवृत्ति खतरनाक होती है, जिसका असर हमारी मनोवृत्तियों पर पड़ता है। यदि हम प्रवृत्ति न भी करें, परंतु वृत्ति पर उसका छायांकन हो गया, तो वह जीवन-घाती है। वह साधना-मार्ग पर स्वयं को भले ही आरूढ़ समझ ले, पर दमन के मार्ग से चलने वाला पथिक 'उपशांत-कषायी' है। अस्तित्व की विशुद्धि के लिए उसे पुनः प्रयास करने होंगे। इसलिए जब तक वृत्ति-विकारों के दलदल में फँसे रहेंगे, तब तक जीवन की नौका संसार-सागर के पार कतई न उतर पाएगी। वह तो टूटेगी चित्त के ही किनारे-दर-किनारे से थपेड़े खा-खाकर, टकरा-टकराकर। इस तरह तो मंजिल के आसपास चक्कर काटते हुए भी मंजिल से दूर बने रहेंगे –

मंजिल को ढूँढ़ते हैं, मंजिल के आस-पास।
किशती डूबती है, साहिल के आस-पास॥

यदि जीवन की आध्यात्मिक मंजिलों को पाना है, तो आत्मबोध के करीब आना होगा और आत्मबोध के लिए चित्त की निर्मलता को साकार करना होगा।

हमें चलना चाहिए मन के पार, चित्त के पार। चित्त की गति वृत्ति है और उसकी प्रगति प्रवृत्ति। निवृत्ति वृत्तियों से रहित होना है। वृत्ति से मुक्ति ही व्यक्ति का निर्वाण है। महावीर निवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। शिव इसे 'तुर्यावस्था' कहते हैं। बुद्ध का शब्द है 'परावृत्ति'। वृत्ति की उज्वलता ही परावृत्ति है। चेतना के जगत् में 'परा' परमस्थिति का वाचक है। निवृत्ति और परावृत्ति अपने आखिरी चरण में परम मौन, परम स्वरूप का रूप धर लेती हैं। वास्तव में जहाँ ऐसा महामौन प्रकट होता है, वहीं 'स्वयं का जगत्' है।

वृत्तियों की पारदर्शी परतों का बिखर जाना ही समाधि है। संन्यास और समाधि में बुनियादी भेद है। चित्त का सो जाना संन्यास है, किंतु चित्त का शून्य हो जाना समाधि है। ध्यान इस समाधि में प्रवेश करवाता है, इसलिए ध्यान समाधि का प्रवेश-द्वार है। परंतु ध्यान की आखिरी मंजिल समाधि ही नहीं है। समाधि तो ध्यान का पहला चमत्कार है, प्रथम आनंद उत्सव है। समाधि वास्तव में तूफान-घिरे सरोवर का निस्तरंग होना है। यह आत्म-जागृति है। जब हमारे भीतर रात-दिन में कभी भी स्वप्न न रहे, विचारों की उठापटक न रहे, भीतर-बाहर निर्मल स्थिति रहे, तो समझें स्वयं को आत्म-जागृत पुरुष। यह दशा समाधि की है, प्रज्ञा-प्रकर्षता की है। यह एक प्रकार की महामृत्यु है। जीवन में नया पुनर्जन्म है।

मृत्यु उसी की होती है, जो मरणधर्मा है। शरीर मरणधर्मा है, चित्त मरणधर्मा है। मरने वाले मर गए, यही उनकी समाधि है। समाधि यानी मरणधर्मा ने अपना धर्म पूरा किया। संन्यासी/श्रमण, जीकर भी शरीर की दृष्टि से मृत होता है और मरकर भी अमृत होता है। इसलिए उनके अंत्येष्टि-स्थल को 'समाधि' कहा जाता है। वे मुक्त तो जीते-जी हो जाते हैं, पर शरीर का ऋण चुकाना बाकी होता है। शरीर छूटा और जैसे ज्योति आकाश की ओर उठकर खो जाती है, ऐसे ही अमृत-पुरुष विलीन हो जाते हैं, विराट् हो जाते हैं।

जब व्यक्ति शरीर और चित्त दोनों के पार चला जाता है, तो समाधि से उसकी बखूबी मुलाकात होती है। तब अंतर-हृदय में 'पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे', तब हृदय सच्चिदानंद के सौंदर्य से आह्लादित हो जाता है। तब 'अपूर्वकरण' घटित हो जाता है। मरुस्थल मरुद्यान में बदल जाता है।

देहातीत और मन-रहित स्थिति ही समाधि है। जहाँ हमारे 'आगे' भी कुछ नहीं बचता, 'पीछे' भी कुछ नहीं रहता, तभी समाधि की संभावना जीवन के

हिमाच्छादित गौरीशंकर से अवतरित होती है। जहाँ मन की किंचित् भी खटपट नहीं है, वहीं समाधि है। जहाँ कुछ है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में चित्तवृत्ति ही है। निर्विकल्प/विचार-रहित, शांत-मौन दशा का नाम समाधि है।

इसलिए समाधि महाशून्य है, चित्त के संसार का समापन है। जहाँ चित्त का संसार भीतर की निगाहों से ओझल हो जाता है, वहीं चेतना जीवन के आकाश में अपने पर खोलती है। चित्त के संसार के पार है चेतना का विस्तार, चैतन्य-विहार। चित्त के पार होना चित्त की शुद्धावस्था की पहल है। यही तो वह स्थिति है जहाँ आत्मज्ञान घटित होता है। आत्मज्ञान द्वार है परमात्मा का। आत्मज्ञान के पड़ाव पर परमात्मा साकार होते हैं; वह परमात्मा जो प्रत्येक का स्वभाव-सिद्ध अधिकार है। तब व्यक्ति 'वह' नहीं रह जाता, जो अभी तक रहा है। जो अभी है, वह तो खो जाता है। फिर तो 'वह' अवतरित होता है, जिसकी उसे तलाश और अभीप्सा रही। एक नई आभा प्रकट होती है, एक नई ऋतु जन्म लेती है, एक अस्तित्व आविष्कृत होता है, अमृत-वर्षा होती है। जीवन के डाल-डाल और पात-पात पर –

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गंभीर।

चहुं दिसि दमकै दामिनी, भीगै दास कबीर॥

फिर तो कैवल्य/ब्रह्मज्ञान रोम-रोम से निःसृत होने लगता है। सारा अस्तित्व अमृत बरसाने लगता है। फिर तुम एक न रहोगे, अनंत बन जाओगे। वाणी भी अनंत हो जाएगी, हाथ भी अनंत हो जाएँगे। करुणा और ध्यान भी अनंत हो जाएँगे। जीवन में अंतर का प्रकाश होगा अंतहीन – अनंत !

महामौन में ही महाअमृत की वर्षा होती है। यात्रा शुरू होगी वृत्ति-बोध से, निवृत्ति से।

हम स्वयं से रूबरू हों, थिरतापूर्वक स्वयं को समझें। अपने वृत्ति-विकारों को समझें और पूर्वानुभूतियों का वृत्ति से ऊपर उठने में उपयोग करें। कल के कषाय-विकारों से कुछ न मिला, तब आज के कषाय-विकारों से क्या मिलेगा ! जब कल के भोग से तृप्त होकर भी आज अतृप्त रहे, तो आज के भोग से कौन तृप्त हो जाओगे ! चित्त का हर भोग एक मृग-मरीचिका है। बोध ज्यों-ज्यों गहरा होगा, वृत्तियों की उठापटक त्यों-त्यों शांत होगी। हम बोध का उपयोग करें। बोध ही आधार है जीवन-मुक्ति का, आत्म-शांति और आत्म-शुद्धि का। 'बिना बोध सब सून' – बिना बोध के सब शून्य है। बोध का दीप हाथ में थामें। बोध ही आधार है – प्रथम भी, अंतिम भी।

कहते हैं : कुछ संत अपने भिक्षा-पात्रों पर बड़ी कारीगरी से रंग-रोगन कर रहे

थे। वे उन पर नाना लुभावने बेल-बूटे निकालने लगे। इस कार्य में वे तीन दिन से इतने तत्पर थे कि ध्यान और संबोधि-भावना का विस्मरण ही कर बैठे; मानो उनके पास समय ही न हो।

अर्हत् को इसकी जानकारी मिली। वे द्रवित हो उठे। बोले, मन की ग्रंथि भी कितनी विचित्र है! किसलिए आए और क्या करने लगे ?

सभी चौंके। अर्हत् ने कहा, स्वयं के लक्ष्य को बिसरा कर आस्रवों को नहीं रोका जा सकता।

सबने अर्हत् की आँखों को पढ़ा। चेतना से आँसू ढुलक पड़े। बह गया था जिससे उन पात्रों का सब रंग, चेतना के संग। सभी ध्यान में उतरे और फिर लगे रँगने अंतर्मन को, भीतर के मंदिर को। वृत्ति से उपरत हुए, तो सहज प्रवृत्ति के स्वामी हो गए। परावृत्ति और संबोधि की उज्वलता को उन्होंने आत्मसात् कर लिया।

हम अपने हाथ से बोध का दीप थामें और उतरें अंतर में अंतर्बोध और अंतर्योग के लिए। बोधपूर्वक वृत्ति/विकृति को समझें और पार लें। मार्ग उसी का है, जो चले। मंजिल उसकी है, जो पहुँचे। शेष तो जैसी जिसकी नियति!



द्रष्टा-भाव : अध्यात्म की आत्मा

अंधा वह नहीं है, जिसके पास आँखें नहीं हैं;
अंधा वह है, जिसके पास अंतर्दृष्टि नहीं है।



कुछ दिन पहले की बात है। मैं किसी मकान की छत पर बैठा प्रकृति के रहस्यमय स्वरूप को निहार रहा था। कभी मैं टिमटिमाते तारों को निहारता, तो कभी अर्द्ध चंद्राकार को। ऐसा हुआ करता है। मैं कभी घंटों फूलों को निहारा करता हूँ, तो कभी सरोवर की लहरों को। कभी उड़ती तितलियों और पंखियों को निहारा करता हूँ, तो कभी सड़क पर से गुजरते यातायात और यायावरों को। यह सब तो मानो मेरा नित्यक्रम जैसा रहा है।

जब मैं छत पर बैठा आसमान को देख रहा था, तभी किसी की आहट हुई। आगंतुक करीबी रहा। उसने नम्रता से पूछा, इतनी रात गए क्या कर रहे हैं ? मैंने प्यार से उसे देखा और संकेत में इतना ही कहा, बस, थोड़ा-बहुत पढ़ रहा था। मेरी बात सुनकर वे महानुभाव चौंके। शायद इसलिए कि पढ़ने के लिए मेरे हाथ में कोई किताब नहीं थी। यह तो उन्हें बाद में समझ आया कि मैं कैसी और कौन-सी किताबें पढ़ा करता हूँ।

मेरे जीवन का यह सच है कि मैं बहुत कम किताबें पढ़ता हूँ। कभी-कभार कोई बहुत बेहतरीन किताब हाथ लग जाए, तो ही मैं पढ़ता-बाँचता हूँ; बाकी मेरी किताब हर समय मेरे सामने रहती है सदा खुली, सदा रहस्यपूर्ण।

संसार मेरी किताब है। मैं इसे पढ़ा करता हूँ। जीवन मेरे लिए परमात्मा का मंदिर है और जगत् मेरे लिए शास्त्र। मैं मंदिरों में जाया करता हूँ, पर मुझे जीवन सदा मंदिर के रूप में ही दिखाई दिया है। जो आचरण मैं किसी मंदिर के प्रति करता हूँ, जीवन के प्रति भी काफी-कुछ वैसा ही बरताव होता है। मैं उस जीवन में विश्वास

रखता हूँ जो जन्म से पहले भी था और चिता की डगर से सौ बार गुजर जाने पर भी रहेगा।

यह सब प्रेरणा मिली जगत् का शास्त्र पढ़ने से। मैं पहले बहुत किताबें पढ़ता था। इतनी किताबें कि पढ़-पढ़कर आँखें तक कमजोर कर डालीं। जिन दिनों मैं अंतर्मुखी हुआ, उन्हीं दिनों विनोबाजी की एक बात दिल में उतर गई कि ज्ञान पर भी अपरिग्रह की कैची चलाई जानी चाहिए। चूँकि मैं अपरिग्रह को सामाजिक और साधनामूलक धर्म मानता रहा हूँ और इसी धर्म के अनुगमन के चलते गांधीजी का मैं प्रशंसक हुआ, मुझे विनोबा की बात जँची। मैं जो किताबों का कीड़ा था, भगवत्-कृपा कि उसने मुझे इस आदत से उपरत किया। मैं बड़े प्यार से यह बात कहूँगा कि दुनिया की हर किताब हमारे लिए एक अनमोल थाती है, पर वे सारी किताबें हमारे द्वारा लिखी गई हैं। धरती पर एक किताब और है जिसका रचयिता स्वयं ईश्वर रहा है, प्रकृति रही है। यह जगत् एक अद्भुत किताब है। एक ऐसी किताब कि जिसे जब-जब भी, जितना भी पढ़ा जाएगा; उसका हर अंश नए-नए तथ्य, नए-नए सत्य और नए-नए अर्थ प्रदान करेगा। मैंने दुनिया की महानतम किताबों से बहुत-कुछ पाया है, पर जितना जगत् को पढ़कर पाया है, उतना अन्य किसी किताब से नहीं।

हम जगत् को देखें, जगत् को पढ़ें, जगत् और स्वयं के साथ घटित होने वाली हर छोटी-मोटी घटना पर मनन करें। यह, इस तरह का स्वाध्याय ज्यों-ज्यों गहरा होता जाएगा, जीवन में अध्यात्म की अंतर्दृष्टि उतनी ही मुखर होती जाएगी।

जीवन की उपलब्धि और ज्ञान की सार्थकता स्वयं जीवन को पढ़ने में है। जीवन की हर अच्छी-बुरी घटना-दुर्घटना, क्रिया-प्रतिक्रिया को ध्यानपूर्वक देखने में है। जीवन-दृष्टि और जीवन-बोध ही सबसे बड़ी थाती है। सारे द्वार इसी से खुलते हैं।

महापुरुषों की साधना का एक बहुत सरल और सहज मार्ग रहा है, जिसे उन्होंने सम्यक् दर्शन कहा है। बोधपूर्वक किसी भी तत्त्व को देखना सम्यक् दर्शन है। देखना दर्शन है। श्रद्धा और आस्तिकता का अंकुरण इस दर्शन से ही संभव है। दृष्टि के अभाव में तो मनुष्य जीवन-भर धर्म के द्वार पर जाकर भी नास्तिक ही रहता है।

आस्तिकता और नास्तिकता का स्वरूप बड़ा पेचीदा है। बाहर से आस्तिक नजर आने वाला महानुभाव भीतर से नास्तिक हो सकता है। यह भी मुमकिन है कि बाहर का नास्तिक भीतर में आस्तिक हो। मैंने आस्तिकों में भी नास्तिकता की चिनगारियाँ देखी हैं और कथित नास्तिकों में भी आस्तिकता के दर्शन किए हैं।

यदि वेद-पुराण को मानने वाले को ही आस्तिक समझा जाए, या मठ-मंदिर

में धोक लगाने वालों को ही आस्तिक कहा जाए, तब तो संसार में, दस प्रतिशत लोग ही ऐसे हैं, जो आस्तिकता की इस जिम्मेदारी को निभाते हों। ऐसे दस प्रतिशत लोगों में निन्यानवे प्रतिशत लोग ऐसे हैं, जो पंद्रह मिनट धर्मस्थानों में लगाते हैं, शेष समय दुनियादारी/दुकानदारी में।

नास्तिक और आस्तिक की अब तक जो परिभाषाएँ होती रही हैं, उससे तो धरती में आस्तिक 'पेड़ में किसी टहनी के बराबर' हैं। पर मैंने पाया है कि जिन्हें हम नास्तिक कहते हैं, उनमें भी आस्तिकता की बहुत बड़ी संभावना है। आस्तिकता का कोई भी स्वरूप उनमें हो सकता है। मछुआरे मछली पकड़ने के लिए रवाना होने से पहले आकाश की ओर देखकर तीन बार भगवान् को याद करते हैं। फाँसी लगाने वाले चांडाल कहते हैं, मरने से पहले खुदा को याद कर लो। वेश्या के रूप में गंदी मछली कहलाए जाने के बावजूद उसमें आस्तिकता की कोई किरण छिपी मिल सकती है।

कहते हैं : एक बार किसी मठाधीश की मृत्यु हो गई। जिस समय वह मरा, ठीक उसी वक्त एक वेश्या भी मरी। एक के लिए पूरा शहर उमड़ा, शोभा-यात्रा निकाली गई। दूसरे के लिए म्युनिसिपल बोर्ड की गाड़ी आई और मरी हुई कुतिया की तरह उठाकर ले गई।

धर्मराज के दरबार में दोनों के लिए सुनवाई हुई। धर्मराज ने कहा, मठाधीश को झाड़ू निकालने का काम सौंपा जाए और वेश्या को देवलोक का आधिपत्य। वेश्या ने कहा, जी... कहने में गलती हुई है। मैं और स्वर्ग का आधिपत्य ! झाड़ू निकालने की भी गति मिल जाए तो मैं इसे आपकी कृपा मानूंगी। मेरे भाग्य कहाँ ! मैंने तो जिंदगी भर पाप-ही-पाप किए हैं।

मठाधीश भी बिगड़े। उन्होंने कहा, धर्मराज ! तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है ? मैं...और झाड़ूगिरी ! यह वेश्या और देवलोक का आधिपत्य ? तुमसे तो धरती के लोग ही भले जो कम-से-कम सम्मानपूर्वक मेरी अर्थी तो निकाल रहे हैं। ध्यान से देखो, नीचे सब मेरी जय-जयकार कर रहे हैं। आप कुछ तो न्याय का सम्मान करते !

धर्मराज ने कहा – महाराज ! धर्म-क्षेत्र में अन्याय नहीं होता। नीचे तुम मठाधीश होते हुए भी वेश्यागामी थे और वेश्या शरीर बेचकर भी संन्यस्त जैसी थी। सब भावदशाओं का खेल है।

धर्मराज की बात से दोनों चौंके – मठाधीश भी, वेश्या भी। धर्मराज ने पहेली सुलझाते हुए कहा – मठाधीश, तुम पवित्र वेश में रहते हुए भी रात-दिन वेश्या के बारे में सोचते रहे और रास्ता ढूँढ़ते रहे कि कैसे उसके साथ सहवास हो। वहीं वेश्या

स्वयं को धिक्कारती रही और भगवान् से प्रार्थना करती रही कि प्रभो ! यह दुष्कृत्य तुम और किसी से मत करवाना। काश, मैं भी संन्यस्त हो पाती, मीरा की तरह तुममें समा पाती।

धर्मराज का यह सत्य-दर्शन हमारे लिए भी है। कहीं ऐसा न हो कि हमें मठाधीश का स्थान मिले। जीवन के वास्तविक फूल अंतर्धरातल पर खिलते हैं। जो अंतर्जीवन को निर्मल करने के लिए, उसके निर्माण और संस्कार के लिए उत्सुक है, वही वास्तव में आस्तिक है। अस्तित्व का स्वीकार ही आस्तिकता है।

आस्तिक के मायने हैं श्रद्धा से भरा मनुष्य और नास्तिक का अर्थ है संदेह से घिरा मनुष्य। अस्तित्व की सर्वोच्चता को श्रद्धा से तो पाया ही जाता है, संदेह से भी पाया जा सकता है। बशर्ते संदेह भी समग्र हो, सम्यक् हो, जिसके निराकरण के लिए जीवन को दाँव पर लगा सकें।

संदेह को शीर्षासन कराने का एकमात्र उपाय है सम्यक् दर्शन। सम्यक् दर्शन ही संदेह-निवारण का आधार-सूत्र है। दर्शन से ही समझे जा सकते हैं संसार के सम्मोहन। दर्शन से ही जाने जा सकते हैं सत्य के प्रकाश-स्रोत। दर्शन ही वह देहरी का दीप है, जिससे निहारा जा सकता है बाहर को भी और भीतर को भी।

स्वयं की वास्तविकता और स्वयं के अस्तित्व से मिलना योग है और द्रष्टा-भाव योग का प्रवेश-द्वार है। द्रष्टा-भाव का अर्थ है अंतर्दृष्टिपूर्वक देखना। तटस्थ भाव से देखना। देखने का अर्थ है, केवल देखना। कोई चुनाव नहीं, कोई मूल्यांकन नहीं। जैसे सागर के किनारे खड़ा पथिक जल-तरंगों को सहज तटस्थ भाव से निहारता है, न रागजनित संस्कार और न द्वेषजनित भाव। ऐसे ही निहारना होता है जगत् के धर्मों को, देह और चित्त के धर्मों को। जहाँ ग्रहण नहीं होता, केवल बोधपूर्वक देखना भर होता है, उसी का नाम है सम्यक् दर्शन और यही है द्रष्टा-भाव। ध्यान सम्यक् दर्शन का मार्ग है। धैर्यपूर्वक, थिरता से अंतःबाह्य स्थिति का किया गया सम्यक् दर्शन ही निवृत्ति और मुक्ति का स्वतःसिद्ध मार्ग है।

कहते हैं : बालशेम नाम के संत प्रतिदिन मध्य रात्रि के समय नदी से वापस लौटा करते थे। वे रात को नदी के किनारे जाकर बैठते और परिपूर्ण निस्तब्धताओं में द्रष्टा को देखते रहते। आँख खुली तो नदी की लहरों को देखने का आनन्द लेते, लहरों के साथ एक लय हो जाते, आँख बंद होती तो खुद को देखने का, खुद की विपश्यना का आनंद लेते।

एक दिन, बीच में पड़ने वाले किसी महल के पहरेदार ने संत को रोका और कहा, महानुभाव ! मुझे क्षमा करें आपको टोकने के लिए, लेकिन मेरी जिज्ञासा है कि आप रोज नदी पर क्यों जाते हैं ? वहाँ क्या करते हैं ? मैंने अनेक दफा आपका पीछा

किया, लेकिन मैं निष्कर्ष नहीं निकाल पाया।

संत ने कहा, मैंने भी तुम्हारी आहट सुनी है। तुम क्या करते हो? पहरेदार बोला, मैं एक साधारण पहरेदार हूँ, महल का पहरा लगाता हूँ।

संत हँसे और कहा, हे प्रभु! तुमने तो कुंजी दे दी। मैं भी तो अब तक यही करता आ रहा हूँ।

पहरेदार ने कहा, मैं समझा नहीं। आप तो नदी की रेत पर बैठे रहते हैं, आप कहाँ किस महल की पहरेदारी करते हैं?

संत ने कहा, तुम्हारी पहरेदारी और मेरी पहरेदारी में थोड़ा-सा फर्क है। तुम बाहर के महल की पहरेदारी करते हो और मैं भीतर के महल की पहरेदारी करता हूँ। मैं कौन हूँ? – मेरे भीतर यह द्रष्टा कौन है – यह जानना और देखना ही मेरी साधना है।

पहरेदारों ने कहा – मैं जो पहरा लगाता हूँ, उसके लिए मुझे धन मिलता है, पर आपके पहरे से आपको क्या मिलता है?

संत इस बार ठहाका लगा बैठता है। कहता है – मुझे इससे जिस धन्यता का आनन्द मिलता है वह संसार के बड़े-से-बड़े धन से भी ज़्यादा मूल्यवान है। मेरी आनंददशा का एक क्षण और दुनियाभर के सारे खजाने – फिर भी भीतर के आनंद का क्षण अधिक महान है।

पहरेदार ने कहा – यदि भीतर का अनुभव इतना सुंदर है तो मुझे भी दीक्षित करे। संत ने कहा – तुम मुझसे अधिक सुन्दर तरीके से स्वयं की साधना कर सकते हो क्योंकि पहरा लगाना तुम्हें बखूबी आता है। कहा, फर्क इतना ही है कि बाहर की बजाय भीतर का दर्शन करना है, भीतर का पहरा लगाना है। आओ, मैं तुम्हें दीक्षित करता हूँ। और यह कहते हुए संत उसे नदी की ओर ले निकल पड़े।

मेरे देखे, द्रष्टाभाव ही अध्यात्म की बुनियाद है, यही आत्म-भावना का जनक है, यही भेद-विज्ञान का सूत्रधार है। द्रष्टा तो 'जो होता है', उसे देखता है। वह स्वागत उसी का करता है, जो उसे सत्य के और समीप ले जाए। द्रष्टा जीता है अचुनाव में। चयन मन की राजनीति है। जो द्रष्टा है वह चयन और चुनाव की राजनीति नहीं खेलता। वह चयन को भी मन की ही खटपट मानता है। आखिर दो विकल्पों में से किसी एक विकल्प को चुनना किसी नए विकल्प के निर्माण का मार्ग है। मन तो दर्जी की दुकान है, जहाँ विकल्पों की कतरन हर जगह दबी-बिखरी पड़ी है।

द्रष्टा को होना होता है निर्विकल्प, निःस्वप्न। शुरुआत में तो वह विचार-विकल्पों के सड़े-गले पत्तों को अलग करता है, परंतु धीरे-धीरे उसकी यात्रा बीज

की ओर होती है – निर्विचार की ओर, मूल की ओर। पत्ते डालियों में समा जाते हैं, डालियाँ शाखा में, शाखा जड़ में और जड़ बीज में। बीज का वृक्ष-विस्तार से वापस बीज में आ जाना, गंगा का गंगोत्री में लौट आना ही स्वरूप में वापसी है। यह चेतना का प्रतिक्रमण है। वापसी की, प्रतिक्रमण की यात्रा कठिन है। बहना सरल है, किंतु तैरना कठिन है। भुजाओं की प्रतिष्ठा बहने में नहीं, तैरने में है। शक्ति के मूल स्रोत तुम स्वयं हो। स्वयं में स्थित हो जाओ – यही साधना की शक्ति है। 'स्वपदम् शक्तिः' – स्वयं में स्थिति ही शक्ति है।

साधना की शुरुआत दर्शन से है। दर्शन ही सार है और दर्शन ही शुरुआत है आध्यात्मिक जीवन की। 'दर्शन' ही नाव है, दर्शन ही किनारा है। दर्शन ही साक्षी-भाव है और दर्शन ही चरित्र की आधारशिला है। कुंदकुंद की दृष्टि में भ्रष्ट वही है जो दर्शन से भ्रष्ट है। 'दंसण भट्ठो भट्ठो' – दर्शन-भ्रष्ट ही भ्रष्ट है। अंधा वही है जो अंतर्दृष्टि से वंचित है। यों तो अंधा कोई नहीं। जिसके पास आँख नहीं है, वह अंधा नहीं है। वह अपनी अन्य इंद्रियों के सहयोग से देखने जैसा आभास कर लेता है। असली अंधा वह है जिसके पास आत्मदृष्टि, अंतर्दृष्टि नहीं है। हम जरा अपने आपको देखें कि कहीं हम भी अंधे तो नहीं हैं? ऊपर से आस्तिक दिखने वाले भीतर से कहीं नास्तिक तो नहीं हैं? होता ऐसा ही है। आस्तिकता व्यवहार बन गई है। नास्तिकता पर्दे की ओट में आराम से पल रही है। क्या हम पहचानने की कोशिश करेंगे अपनी नास्तिकता को, अपनी अंधता और जड़ता को ?

घर-घर दीपक बरै, लखै नहीं अंध।

लखत-लखत लखि परै, कटे जमफंद॥

मूल अस्तित्व की ओर बोध की दृष्टि हो। दीए घर-घर में जल रहे हैं, भीतर देखो। जो भीतर नहीं देखता, वह अंधा है। आम लोगों की नजरों में अंधा वह है, जिसके आँखें नहीं हैं। अमृत-पुरुषों की राय में तो अंतर्ज्योति को न देखना अंधापन है। अंतर्दृष्टि का अभाव प्राणी का आध्यात्मिक अंधापन है। 'लखत-लखत लखि परै' – देखते-देखते आखिर देख लोगे। स्वयं में देख लोगे, साकार में निराकार को जान लोगे।

सुबह एक साधक कह रहे थे कि आपके पास आने के बाद ऐसे लग रहा है मानो मैं मन की उधेड़बुन से मुक्त हुआ जा रहा हूँ – विकल्प दशा से मुक्त। अब मैं क्या करूँ? मैंने कहा, करने को अब क्या है, अब तो सिर्फ होने को है। करना-धरना हो गया, अब तो होना है, स्वयं के विश्राम में जीना है। अब तो जो हो, उसका आनंद लेना है। हर दशा, भावदशा, कर्मदशा के प्रति जागरूक रहना है। जब आनंद का 'यह' पड़ाव आया है, तो 'वह' भी आएगा। मुबारक है, तुम कुछ हो सके। मन की भगदड़ तुमने समझी, हृदय की धड़कन सुनी; अब सुनने हैं स्वयं के स्वर, जानने

हैं आत्मा के अनुभव। ध्यान सिर्फ यही रखना कि, बीच में फिसल मत जाना, प्रमत्त मत होना, अभी हमें और तल पार करने हैं। गहराइयाँ तो असली अब पानी हैं।

जीवन के कई तल हैं और जीवन के प्रति सजग होने वालों को उन्हें ध्यान में लेना चाहिए। जीवन का विज्ञान भी प्रयोगों में विश्वास रखता है। अंतर्ज्ञान के प्रत्यक्ष हुए बिना वह सारे भरोसों को बैसाखियों का सहारा मानता है। अध्यात्म के विज्ञान में उन तलों को प्रकाशित किया गया है। बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा – जीवन-विज्ञान के ये चार शिखर हैं। जैसे यमुनोत्री से गंगोत्री ऊपर और गंगोत्री से गोमुख, गोमुख से कैलास ऊपर है, परम है, वैसे ही हैं ये चार तल।

पहला तल है बैखरी का – बोलने का। आदमी खूब बोलता है, किंतु वह रोजाना बोल-बोलकर भी वही बोलता है जिसे वह कई बार बोल चुका है। मनुष्य अस्सी फीसदी वही बोलता है, जो बोला जा चुका है। तुम अपनी पत्नी से प्रेम की जिस ढंग से बात करते हो, तुम्हारा मित्र भी अपनी पत्नी से वैसी ही या उससे मिलती-जुलती बातें करता है। माता-पिता भी वैसा ही करते थे। आखिर शब्द सीमित हैं। लहजा बदलेगा, मूल में तब्दीली नहीं होगी। हर संवाद भाषा का पिष्टपेषण है। इस तरह आदमी 'आटे' को ही बार-बार पीसता रहता है।

राजनेताओं के भाषण सुन लो। झूठे आश्वासन और जोशीले भाषण – इसी में उनकी जिदगी खपत होती है।

एक मंत्री मेरे पास आया करते थे। चुनाव का माहौल था। एक दिन शाम के वक्त थके-माँदे मेरे पास आए। कहने लगे, सुबह से अभी तक दस ही मीटिंग हो पाई हैं और पाँच दिन बाद चुनाव है। दस जगह भाषण दे चुका हूँ, अभी चार जगह और संबोधन करना है। बोलते-बोलते उनका गला फट चुका था। मैंने पूछा, दस जगह ? एक-सा भाषण देते हो या जुदा-जुदा। कहने लगे – भाषण तो एक ही है, सिर्फ स्थान बदल जाते हैं।

बैखरी वक्तव्य की पुनरावृत्ति है। पता है, लोकोक्ति कैसे बनती है ? जो बात लंबे समय से लोगों की जुबाँ से गुजरती है, वही लोकोक्ति है। एक ही बात को सब दोहरा रहे हैं। इसलिए अपनी बात को सारगर्भित रूप दें। उतना ही बोलें जितने से काम चल सकता है। सत्य तो यह है कि लंबे वक्तव्य की बजाय छोटे वक्तव्य अधिक प्रभावशाली होते हैं। साहित्य-मनीषा कहती है – वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। रसात्मक वाक्य ही काव्य है। जो व्यक्ति चौबीस घंटे में बारह घंटे मौन रहता है, उसकी वाणी सघन ऊर्जा से प्रतिष्ठित होती है।

मितभाषी के हर वक्तव्य की प्रतीक्षा रहती है, उसका सम्मान होता है। दो पेज के पत्र की बजाय दो पंक्ति का तार अधिक प्रभावी होता है। तार में हर शब्द पर पचास पैसे लगते हैं, इसलिए आदमी शब्दों की बचत करता है। जितना अधिक

बोलोगे, भीतर की ऊर्जा उतनी ही बाहर बिखरेगी। बोलो, मगर शब्द-संयम का अतिक्रमण करके नहीं। शब्द-संयम तो धर्म-तंत्र का महत्त्वपूर्ण अनुशासन है।

दूसरा तल है मध्यमा – सोचने का। बोलना और सोचना, दोनों में दोस्ताना संबंध है। आदमी बोलता इसलिए है, क्योंकि वह सोचता है। सोच ही अगले कदम में बोल बन जाता है। सोच भी एक सत्य है, एक आलोक है। सोच यदि ध्यान में केंद्रीभूत हो जाए, तो सत्य की एक नई मुस्कान आविष्कार पाती है। किंतु हमारी सोच हमारे लिए आविष्कार के स्थान पर घुटन क्यों लगती है? इसलिए कि हमने सोच को विकेंद्रित कर रखा है। हजार तरह की सोच हमारे मन में बनती-बिखरती है। जहाँ पल-पल में सोच धूप-छाँह खेलती है, वहाँ हम न तो पूरी तरह अंधकार में हैं और न पूरी तरह प्रकाश में। अधर में लटका कहलाएगा जीवन का अध्यात्म। अध्यात्म तो हमारी सोच का परिष्कार है, अस्थिर मन का केंद्रीकरण है। हम स्वयं को अपने मन के मेले से अलग ले चलें ताकि बच्चे की तरह हम दुनिया की भीड़ में भटक न सकें।

ध्यान का कार्य-क्षेत्र है मन को शांत करना। मन को शांत करने का मतलब है दुनिया भर के भीड़-भरे विचारों से स्वयं को मुक्त करना। जीवन के विज्ञान में मौन का प्रयोग इसीलिए सार्थक हुआ। मौन रखो होठों का भी, मन का भी। ध्यान का यह महत्त्वपूर्ण चरण है। मैं इसे ऊर्जा-समीकरण ध्यान कहूँगा। यदि इसे तुम प्रतिदिन करो, तो मानसिक तनाव तुम्हारी धमनियों में कभी भी संजीवित न हो पाएगा।

शाम के वक्त चले जाओ घर की छत पर, बगान में, कमरे में या ऐसे स्थान पर जहाँ सिर्फ तुम ही रहो, घर-परिवार या भीड़ का कोलाहल न हो। आराम-कुर्सी पर जाकर बैठो, बड़े आराम से सहज शिथिल शरीर। आधे घंटे तक शांत मन बैठे रहो। न कुछ देखना है, न कुछ सोचना है। बस ऐसे रहो जैसे रात को सोते हो। रात को सोते समय शरीर सोता है, पर मन सपने के जाल बुनता है। यहाँ तुम्हें मन को सुलाना है होशपूर्वक रहकर। आधे घंटे की यह शांति भर देगी तुम्हें फूलों-सी खिलती ताजगी से। तुम स्वयं को तनाव-रहित, तरोताजा और स्वस्थ मन पाओगे।

यदि विचारों की उधेड़बुन उठने लगे, तो बगैर किसी दबाव के दोनों आँखों की ओर देखते रहो। साक्षी-भाव से उसके द्रष्टा बनो। श्वास की गति शांत मंद हो। धीरे-धीरे मन की खट-पट शांत हो जाएगी।

यदि मन के कारण अधिक परेशान हो, तो एक और प्रक्रिया से गुजर सकते हो, और वह है प्रतिक्रिया-मुक्ति। अच्छे-बुरे जो भी कार्य हों, होने दें; स्वयं को उससे न जोड़ें। क्रिया चालू रहे, पर प्रतिक्रिया नहीं। मानसिक तनाव, आक्रोश और असंतुलन का मुख्य कारण प्रतिक्रिया है। यह संकल्प करना ही काफी है कि मैं किसी भी क्रिया पर अपनी आक्रोशपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करूँगा। मैं

हर हालत में शांत रहूँगा। धीरज से बोलूँगा। धैर्य, शांति और प्रसन्नता को अपने तन-मन में बरकरार रखूँगा। धीरे-धीरे आप पाएँगे कि भाग्य और नियति के उलटे-सीधे खेल होने के बावजूद आप शांत हो, खुश हो, मस्त हो। ध्यानयोग की यह अनिवार्य भूमिका भी है और प्रेरणा भी।

आम तौर पर हमारी जिंदगी बोलने और सोचने में घिसती है। आदमी जितना बोलता है, उससे अधिक वह सोचता है। जितना सोचता है, उसका दसवाँ हिस्सा भी वह बोल नहीं पाता। अभिव्यक्ति अनुचितन से बढ़कर नहीं हो सकती। पर हाँ, जिनका मन मितभाषी हो जाता है, वे उतना ही बोलते हैं, जितना वे सोचते हैं। अंतर्दृष्टि का द्वारोद्घाटन होने के बाद भी मन का उपयोग और वाणी का व्यवहार तो होता है, पर उतना ही जितना आवश्यक है। तीर्थंकर, बुद्ध या ब्रह्मर्षि लोग न बोलते हों, ऐसी बात नहीं है। मन और होंठ, कंठ, तालु का उपयोग तो वे भी करते हैं, पर हमारी तरह नहीं, जो बोलते तो हैं पाँच मिनट और सोचते रहते हैं दिन भर। हम किसी से मिले, बात की; वह चला गया, पर्दा गिर जाना चाहिए; परंतु हम उसके चले जाने के बावजूद उसके बारे में सोचते रहते हैं। सोच की यह प्रक्रिया ही तो मनुष्य के लिए तनाव की आधारशिला है।

आत्मजागृत पुरुष तो दर्पण की तरह होते हैं। कोई आया, दर्पण में उसका प्रतिबिंब बना। वह चला गया, बात खत्म हुई। दर्पण चित्रांकन नहीं करता। वह कैमरा नहीं है। खुद को उसमें देखना चाहोगे, तो वह दिखाएगा। हमारी मुखाकृति हटी कि वह साफ-सुथरा, स्वच्छ, निर्मल, प्रतिबिंब-मुक्त।

जीवन-विज्ञान का तीसरा तल है पश्यंति-दर्शन का, देखने का। मन के ऊहापोह भरे पहलू उंडे हो जाने पर एक ऐसी क्षमता मुखर/प्रखर होती है, जिसे पश्यंति कहा गया है। यह अध्यात्म-क्रांति की बुनियाद है। पश्यंति में जो देखा जाता है, वह बाहरी आँखों से नहीं, भीतरी आँखों से, अतींद्रिय बोध-दृष्टि से देखा जाता है। अंतर्जगत् का दर्शन अतींद्रिय होता है। इसीलिए ऋषि-मुनि कहते हैं – हमने देखा। महावीर कहते हैं – मैंने देखा, मैंने जाना। उनके तो साधना-सूत्रों में भी सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान प्राथमिक हैं। बुद्ध के शब्दों में – पिटक-ज्ञान मैंने बोधि-क्षणों में देखा। मूसा को भी ‘टैन कमांडमेंट्स’ दिखाई पड़े, सुनाई पड़े।

देखने और सुनने में सिर्फ तीन इंच का फर्क नहीं है, फर्क है बोध की प्रखरता का। दर्शन मौलिक ज्ञान का प्रकाश-मार्ग है। श्रवण के बाद दर्शन की भूमिका है। श्रवण की कसौटी दर्शन ही है। ‘कानों सुनी सो झूठी, आँखों देखी सो सच्ची’। सुनने से तो बस इशारा मिलता है। पहले सुनो, सुनने से पता चलेगा कि सच क्या है, झूठ क्या है। फिर उसको देखो। आँखों से देख लोगे, तो वह श्रुति नहीं, वह वेद हो जाएगा, अनुभूति बन जाएगा।

वेदों को पहले श्रुति कहा जाता था। श्रुति यानी सुना हुआ। जिन पुरुषों और बुद्ध-पुरुषों ने कहा कि सुना हुआ सत्य हो सकता है, किंतु पूर्ण सत्य तो देखा हुआ होता है। हम जो कह रहे हैं, उसे देखा, सुना नहीं। सुनी हुई चीज को अभिव्यक्ति देते समय घटोतरी-बढ़ोतरी तो होती ही है। शब्दशः कहने में बुद्धि लड़खड़ाएगी। ज्ञान शब्द के पार भी है। फिर कथ्य की बोधगम्यता के लिए हम अपनी बुद्धि को भी सहकारी संस्था बना सकते हैं।

इसीलिए परंपरा में मोड़ आया। श्रुति शब्द की जगह वेद शब्द प्रसारित हुआ। वेद का मतलब है जाना, अनुभव किया। 'वेद' अनुभव किए हुए को कहना है। महावीर के समर्थकों/शिष्यों ने भी शास्त्र-लिखे, किंतु उन्होंने अपने हर शास्त्र के प्रारंभ में एक बात बड़ी ईमानदारी से कही – 'सुयं मे' – मैंने सुना है। वे यह नहीं कहते कि यह हमने जाना है, देखा है। वे तो बेबाक कहते हैं – हमने सुना है। यह नामुमकिन नहीं है कि हमारे सुनने में, समझने में, सुने हुए को कहने-लिखने में कोई त्रुटि न हो। इसलिए यदि हमें किसी धर्मशास्त्र में कोई बात तर्कसंगत न लगे, अवैज्ञानिक लगे, तो इसका दोष किसी अमृत-पुरुष के मत्थे मत मढ़ना। सुनी हुई बातों को पढ़ लो, फिर उसे जाँचो, परखो, देखो। शास्त्र का ज्ञान पराया है, केवल उसे आत्मसात् न करो। हमारा परम सत्य वही है, जो हमने देखा है, सम्यक् दर्शन किया है। देखे गए सत्य का संदर्भों से मिलान करो। असंगत लगे, तो उसे हटाने में संकोच भी मत करो और संगत लगे, तो उसे ग्रहण करने से कतराना कैसा !

निर्णय करना हमारा अधिकार है। निर्णय वैसा हो, जिस पर न्योछावर और कुर्बान कर सको स्वयं को। आत्म-निर्णय लक्ष्य-सिद्धि की पहली सफलता है।

कुछ बातें ऐसी हैं जिनका संबंध सीधे तौर पर न तो दर्शन से है, न श्रवण से। वे सिर्फ परंपरा बनकर चली हैं। मूल लक्ष्य तो खाई में गिर पड़े हैं, लीक पर चलने की विवशता अभी भी बची हुई है। आज सवरे की परिचर्चा को ही ले लो। कुछ बातें ऐसी लगीं, जिन पर आम आदमी को भी, संघ-समाज को भी सोचना चाहिए, जैसे नंगे पाँव और नंगे बदन ही चलना चाहिए या विकल्प स्वीकार किया जा सकता है ? पैदल ही चलना चाहिए या यात्रा-साधनों का उपयोग कर सकते हैं ?

मैंने अनेक साधु-संन्यासियों को नंगे बदन शहर में चलते पाया। आम लोगों को अच्छा न लगे, तो धर्म-प्रभावना कहाँ हुई ? नग्नता उनके लिए है, जिनका समाज से कोई संबंध नहीं है, जंगल में जाकर अपना ज्ञान-ध्यान करते हैं। एकाँतवास तो अब दराज में चला गया। वे जीते हैं समाज के बीच। वे ऐसे समाज में नग्न रहना चाहते हैं, जहाँ की अपनी सभ्यता है। समाज में आओ, पर कृपया अपनी नग्नता की बजाय यहाँ अपनी साधुता को प्रकट करो।

वाराणसी में मैं गंगावासी 'देवरिया बाबा' से मिला। वे चौबीस घंटों में से पाँच-दस मिनट के लिए अपनी कुटिया से बाहर निकलते, ताकि श्रद्धालुओं को दर्शन मिल सके। वे अपनी कुटिया में नग्न रहते थे, पर जब वे आम जनता के सामने आते, तो सामाजिक दृष्टि से कंबल का एक अंगोछा पहन लेते। ऐसा करने में न तो संत की वीतरागता खंडित होती है, न साधुता।

नंगे पाँव चलो, कोई हर्जा नहीं है। स्वास्थ्य के लिए भी लाभप्रद है। जहाँ तक हिंसा-अहिंसा का प्रश्न है, रबर की हवाई चप्पल या कपड़े के जूते पहन सकते हो। इससे अहिंसा को कोई खतरा नहीं है। शायद इससे अहिंसा को और बल मिले। हवाई चप्पल पाँव की अपेक्षा अधिक नरम होती है। पाँव के नीचे आई चींटी मर सकती है, मगर नरम हवाई चप्पल से संभावना कम है।

पद-यात्रा त्याग एवं तितिक्षा की प्रतीक है। भारतीय संत पैदल ही हजारों मील की यात्रा कर लेते हैं। पद-यात्रा का मुख्य उद्देश्य अहिंसा है। विज्ञान के यात्रा-साधनों में अल्पतम हिंसा से हजारों मील के पत्थर पार किए जा सकते हैं। ऐसे यात्रा-साधनों का उपयोग न हो, जिसे जानवर खींचते हों, जिन रिक्शों को आदमी खींचते हों। डोली पर, ठेलागाड़ी पर बैठकर यात्रा करने की बजाय उस सरकारी रेल पर यात्रा करना बेहतर है, जो सार्वजनिक है। चाहे तुम बैठो या उससे दूर रहो, वह तो चलेगी ही। यह तो सरकारी व्यवस्था है। सबके लिए की गई व्यवस्था है।

लकड़ियाँ जलाकर पानी गर्म करने की बजाय बिजली के हीटर में गर्म करना और पचास आदमियों की जगह क्रेन से गाड़ी खींचना जैसे बेहतर है, वैसे ही कई तथ्य ऐसे ही बेहतर हो सकते हैं। विज्ञान के उन आविष्कारों को स्वीकार करने के लिए हमें शांत दिमाग से सोचना चाहिए, जिनके कारण हिंसा कम हो सकती है, अहिंसा की अस्मिता बढ़ सकती है। अहिंसा बहुत बड़ा धर्म है, हमें इसके प्रायोगिक रूपों को और विकसित करना चाहिए। परंपरा में भी सच्चाई हो सकती है, पर समय यदि सच्चाई के और बेहतर हस्ताक्षर करे, तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए, प्रबुद्ध और वैज्ञानिक लोगों का तो यही निवेदन है।

विज्ञान भी दर्शन की ही एक कड़ी है। बाहर के विज्ञान की तरह भीतर भी विज्ञान है। जीवन का विज्ञान बैखरी और मध्यमा के उपरांत पश्यंति की हंस-दृष्टि दर्शाता है। नीर-क्षीर का विवेक पश्यंति से ही निष्पन्न होता है। द्रष्टा द्वारा जो आत्मसात् होता है, वह है ज्ञान और देखने की प्रक्रिया का नाम है – पश्यंति। जहाँ यह कहा जाता है – 'मैं कहता आँखन की देखी, तू कहता कागद की लेखी', इन आँखों से देखने का मतलब इसी 'पश्यंति' से है, दर्शन से है। दर्शन के मायने हैं द्रष्टा ने दृश्य से स्वयं को अलग देख लिया है, परिधियों से विरत होकर केंद्र के लिए अंतर्यात्रा शुरू

कर दी है। आखिर द्रष्टा ही तो अपने स्वरूप में स्थित होता है – तदा द्रष्टुः स्वरूपे – अवस्थानम्।

द्रष्टा-पुरुष कैवल्य-स्थिति का सच्चा पथिक है। उसे कैवल्य-बोध की शिखर-ऊँचाइयाँ आत्मसात् होती हैं। द्रष्टा ही खोलते हैं द्वार स्थितप्रज्ञता के। इसलिए द्रष्टा होना स्थितप्रज्ञ होने की पहल है।

दर्शन के पार एक और उच्चस्थिति है, जिसे 'परा' कहा जाता है। यह जीवन-विज्ञान का चौथा तल है। 'परा' परम स्थिति है, महाशून्य की, परम चैतन्य की स्थिति है। सुनने और देखने के पार की मंजिल। 'परा' की धुरी पर ही घटित होता है आत्मबोध। परमात्मा का द्वार यहीं खुलता है।

परमात्मा हमारी व्यक्तिगत चेतना का परम विकास है। हमें चलना चाहिए विकास के इस शिखर पर चेतना के महोत्सव में। चाहें तो इस प्रक्रिया से गुजर सकते हैं। मित्र! सबसे पहले देह-ऊर्जा के पार चलें। ध्यान में उतरेँ और स्वयं को प्राण-ऊर्जा पर केंद्रित करें, श्वास लें, श्वास छोड़ें। श्वास ही प्राण-ऊर्जा है। श्वास पर स्वयं को इतना सहज केंद्रित कर लें कि मानो हम सिर्फ श्वास हैं। जब प्राण-ऊर्जा का भरपूर उपयोग/केंद्रीकरण/लयबद्धता हो जाए, तो शरीर को शिथिल छोड़ दें और परम शांत, परम मौन में डूबे रहें। शून्य स्वरूप सहजतया अनुभूत होगा। यदि विचार/विकल्प आते-जाते लगें तो सजग होकर, होशपूर्वक उन्हें देखें। उनका साथ न निभाएँ। 'द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' – द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह द्रष्टा-भाव ही चित्त-वृत्तियों को शांत करते हुए स्व-स्वरूप में प्रवेश कराएगा। अगले चरणों में होने वाला अनुभव ही आत्मबोध की अपूर्व घटना है। यही वह वेला है, जब महावीर का मौन और मीरा का नृत्य साकार होता है। सहस्रार की सहज सच्चिदानंद-दशा हमसे रूबरू होती है।

इस संपूर्ण परा-परिवेश के लिए सर्वप्रथम पहल हो सम्यक् दर्शन के लिए, द्रष्टा-स्वरूप के लिए। ध्यान यहाँ तक पहुँचने में आपका सहकारी शुभाकाँक्षी मित्र होगा। द्रष्टा-भाव ही आधार है ध्यान का। द्रष्टा-भाव ही आत्मा है ध्यान की। जो होना है, वह हो। हम मात्र द्रष्टा रहें – हर स्थिति-परिस्थिति के, हर वृत्ति/कर्म-प्रकृति के। 'न काहू से दोस्ती, न काहू से बैर' बस, मात्र द्रष्टा-भाव हो, साक्षी-भाव हो। द्रष्टा ही आत्मस्वरूप में अवस्थित होता है, वही मुक्ति के द्वार खोलता है।



अंतर के पट खोल

जिसे स्वयं की सतत स्मृति है, उसके जीवन की
दहलीज़ पर सदा योग का दीप प्रज्वलित रहता है।



कि सी ने पूछा, मनुष्य क्या है ? मैंने कहा, ऊर्जा का समवेत स्वरूप। मनुष्य ऊर्जा और शक्ति का संवाहक है। ऊर्जा का त्रिकोणात्मक संगम हुआ है उसमें। पहली ऊर्जा है – शरीर-ऊर्जा, दूसरी है – प्राण-ऊर्जा, और तीसरी है – आत्म-ऊर्जा। पहली ऊर्जा स्थूल है, दूसरी पहली की अपेक्षा सूक्ष्म है और तीसरी दूसरी से सूक्ष्मतर है।

आत्म-ऊर्जा की स्थिति सर्वाधिक सूक्ष्म है। वह पहली और दूसरी ऊर्जा से भी अधिक सशक्त है। सच्चाई तो यह है कि आत्म-ऊर्जा के कारण ही शरीर-ऊर्जा और प्राण-ऊर्जा का अस्तित्व होता है। आत्म-ऊर्जा का अंश न केवल मनुष्य शरीर में, बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड में परिव्याप्त है।

शरीर-ऊर्जा का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को है। शरीर के हर भाग-विभाग को छूकर/देखकर उसे जाना-पहचाना जा सकता है। मनुष्य शरीर-ऊर्जा का उपयोग भी ज्यादातर करता है। प्राण-ऊर्जा सहजतया गतिशील है। जरा श्वास-स्पर्श का अनुभव करो। श्वास ही तो प्राण है। कोई भी मिनट ऐसा नहीं होता कि साँस रुकी-थमी हो। यह ऊर्जा की हवाई भूमिका है। जीवन मात्र श्वास-ऊर्जा का नाम नहीं है। जीवन तो श्वास-ऊर्जा के भी पार है। श्वास तो जीवन की मात्र अभिव्यक्ति है, भीतर और बाहर, दोनों को जीवनवाही तत्त्वों से जोड़ने का सेतु है।

योगी दीर्घायुष्य का जीवन जीते हैं। वे श्वास को रोक भी सकते हैं। प्राणायाम की प्रक्रिया में 'कुंभक' श्वास को रोकना है और आश्चर्य यह है कि श्वास रुकने के बाद भी मनुष्य जीवित रहता है। यदि अभ्यास करें, तो यह प्रयोग हर कोई कर सकता है। कई योगी, संन्यासी, फकीर जमीन में समाधि ले लेते हैं और काफी समय

तक वे उसमें रह लेते हैं। वे वास्तव में जान लेते हैं कि जीवन का रहस्य क्या है।

जीवन का असली रहस्य आत्म-ऊर्जा है। श्वास आत्म-ऊर्जा की अभिव्यक्ति है। श्वास को आत्मा से ही ऊर्जा मिलती है। आत्म-ऊर्जा के बारे में आम आदमी बेखबर है। हाँ, वह इतना जरूर जानता है कि शरीर में कोई-न-कोई ऐसी ऊर्जा या शक्ति अवश्य है, जिसके कारण शरीर है और जिसके निकल जाने के बाद शरीर माटी की ढेरी। श्वास का रुकना जीवन का वियोग नहीं है, किंतु आत्म-वियोग होने पर श्वास-निरोध अवश्यभावी है।

माँ के गर्भ में हम मात्र अणु थे, उससे पूर्व एक अदृश्य आत्मा। आत्मा अणु में वैसे ही प्रविष्ट हुई जैसे कमरे में हवा। धीरे-धीरे शरीर बना, इंद्रियाँ बनीं, जन्म हुआ, बड़े हुए। हम जीवन के जन्म के बारे में अपनी अंतर्दृष्टि जगा। जन्म की ओर लौटें। प्रतिक्रमण करें। 'प्रतिक्रमण' अर्थात् जीवन के अतीत को झांकना। यदि पीछे लौटें तो पाएँगे कि अति सूक्ष्म में हमारी गंगोत्री है, जहाँ से प्रसारित हुई है जीवन की गंगा। गंगा गंगोत्री के कारण है। यदि मूल स्रोत रूँध जाए तो पंछी उड़ जाएगा, पिंजरा यहीं पड़ा रह जाएगा।

मनुष्य अपने आप में एक सृष्टि है और सृष्टा सदा अपनी सृष्टि में तल्लीन रहता है। परतंत्र वह इसलिए है, क्योंकि उसके पास आत्म-स्वतंत्रता का कोई नारा नहीं है, जिसके तहत वह आत्म-स्वरूप की आजादी के लिए जिंदाबाद-मुर्दाबाद करे। अंतर्यात्रा के लिए अभीप्सा जिंदाबाद है, शेष तो मुर्दाबाद के कंधे पर जिंदाबाद की राजनीति है।

मनुष्य के पास ऐसी कोई प्यास दिखाई नहीं देती, जिसके लिए वह जीवन को दाँव पर लगा सके। उसका सारा जोर शरीर के लिए है। आँख न होने पर वह भगवान् की प्रार्थना करेगा, किंतु आँख मिलने के बाद वह वेश्या का द्वार खटखटाएगा। मनुष्य की निगाहें निगाहों पर नहीं, देह पर केंद्रित हैं। वह इंसान शैतान है, जिसकी नजर माँ के दूध पर नहीं, नारी के जन्म-स्थान पर टिकी रहती है। जिस देह को मनुष्य सजा-बचाकर रखना चाहता है, वह तो रोज-ब-रोज जर्जर हुई जा रही है। देह मृत्यु का घर है। मृत्यु के क्षणों में आनंदघन के वे गीत – 'अब चलो संग हमारे काया' – मनुष्य के लिए अनसुने-अनबूझे रहे हैं।

महावीर की ध्यान-पद्धति का एक चरण है – कायोत्सर्ग। यह वास्तव में देह-राग से ऊपर उठने के लिए है। काश, मनुष्य आत्म-समीकरण के लिए जीवन का कोई संपादन कर पाए।

आत्म-ऊर्जा से अभिप्राय है हमारे जीवन की मौलिकता, अस्तित्व की वास्तविकता। अदृश्य या सूक्ष्म रहकर उसे नजर-अँदाज नहीं किया जा सकता।

संभव है, किसी की नजरों में परमाणु का कोई मूल्य न हो, परंतु एक परमाणु में हिरोशिमा की भाग्य-रेखा खींची हो सकती है। सागर को एक बूँद में चखा जा सकता है। परमात्मा विराट् है, हम बूँद हैं। जो बूँद को चख लेता है, सागर उससे छिपा नहीं रह पाता।

हम सघन ऊर्जा के धारक हैं। आत्म-ऊर्जा की सशक्तता को चुनौती नहीं दी जा सकती। उससे प्यार किया जा सकता है, उसमें निमग्न होकर स्वयं को विराट् किया जा सकता है। दूसरों से प्यार खूब हुआ, चुम्मा-चुम्मा भी खूब गाया-किया, पर हर बार प्यार प्रवंचना बना। वह व्यक्ति 'महा मानव' है, जो स्वयं से प्यार करता है। स्वयं से प्यार करने वाला कभी किसी के प्रति वैमनस्य नहीं रख सकता। परंतु 'पर' से ही प्रेम का संबंध जोड़ने वाला कदम-दर-कदम विषाणुओं से घिरा है। महत्त्व आत्म-प्रेम और हृदय-प्रेम का है।

कृपया स्वयं से भी जुड़ें और आत्म-घनत्व को मूल्य दें। मनुष्य बीज रूप है। बीज यदि बीज ही बना रहे, तो उसके अस्तित्व का आत्म-विचार कहाँ हो पाएगा। बीज में बरगद की विराट् संभावनाएँ हैं। खेद है वह अपनी इस ओजस्विता से अपरिचित है। जिस दिन उसे अहसास होगा स्वयं की अंतर्गर्भित संभावना का, वह परमात्मा की कृषि-धरा को समर्पित कर देगा खुद को, ताकि अपने आपको हरा-भरा कर सके, बाँहों को बुलंद आत्मविश्वास के साथ फैलाकर स्वयं की ऊर्जास्विता और जीवंतता को उद्घाटित कर सके।

बीज में अनंत का आलिंगन भरती संभावनाएँ जरूर हैं, पर वह अपनी संभावना को शायद देख नहीं पाता। मनुष्य भी बीज रूप है, परंतु वह अपने भीतर झाँक सकता है। अंतर्घट में सतत झाँकना स्वयं की अनखिली संभावनाओं का निरीक्षण है। भीतर की ओर देखना ही तो आत्मस्वरूप से साक्षात्कार की पहल है। जिज्ञासापूर्वक भीतर मुड़ना ही ध्यान है, उसमें दिल भर डूब जाना ही योग है।

मेरे पाँव हिमालय की तराई पर हैं और दृष्टि पर्वताधिराज के अष्टपद से मंडित कैलास पर। खिंचे-खिंचे आप मुझ तक आ गए हैं। कई परिचित हैं, कई अपरिचित। क्या आप तैयार हैं अंतर्-झँकन के लिए? आश्वस्त रहें, मैं सहयोग करूँगा, अंतर्घट में झाँकें, चूँकि हम भीतर झाँक सकते हैं। बीज स्वयं का अंतःकरण झाँक नहीं पाता, इसलिए जीवन-दर्शन की अधिक उज्वल संभावनाएँ हमसे ही जुड़ी हैं। स्वयं के प्रति स्वयं की चेतना को और संवेदनशील बनाएँ। धन्यवाद है उस बीज को, जो आत्म-स्थिति से बेखबर होते हुए भी स्वयं के आँगन में आकाश उतार लेता है। वह मनुष्य नासमझ है, जो सक्षम होते हुए भी खुद की सक्षमता से कोई सरोकार नहीं रखता।

तुम जीते हो दुनिया में, दुनिया के लिए। दुनिया के लिए कहना भी ठीक न होगा; जीते हो पाँच-पच्चीस लोगों के साथ रागात्मक संबंधों में, सौ-दो सौ गज जमीन के ममत्व-पोषण में। अपने लिए कहाँ जीते हो! अपने लिए तो निरंतर मृत्यु की ओर बढ़ रहे हो। जीवन मरने के लिए नहीं, जीने के लिए है – निजत्व के फूल को खिलाने के लिए है। हम लगे हैं दूसरों को जानने में। पर क्या अब तक कोई किसी को संपूर्णतः जान पाया? पुत्र पिता तक को नहीं जान पाया। कौन आदमी भीतर से कैसा है, कोई नहीं कह सकता। दूसरों को जाना नहीं जा सकता, मगर खुद को जाना जा सकता है। चूंकि स्वयं को जानना संभव है, इसीलिए तो निवेदन कर रहा हूँ। काश, जी सको आत्म-अस्तित्व के लिए, सारा संसार अस्तित्व की उज्वलताओं से भरा होता। फिर स्वतंत्रता के गीत किसी राष्ट्र के नहीं, वरन् खुद के गाए जाते, प्राणिमात्र के गाए जाते। जरूरत है बोध के रूपांतरण की।

मनुष्य के पाँव हैं कारागृह में। स्थिति इतनी विचित्र है कि हमने कारागृह को बंधन नहीं, बल्कि घर मान लिया है। गुरु का दायित्व है पिंजरा खोलना। मगर मुसीबत तो यह है कि यदि कोई पिंजरे को खोले भी, तो पंछी उड़ने के लिए तैयार नहीं है। वह सोचता है 'कारा' ही सही, पर है तो जाना-पहचाना, चिरपरिचित। आकाश की विराटता अज्ञात है। आकाश के मधुरिम संगान सुने तो काफी हैं, पर क्या पता, वह पिंजरे से खतरनाक हो। पाँवों में जंजीर भले हो, निकासी का द्वार बंद हो, पर रहने-खाने का तो प्रबंध है ही, असुरक्षित तो नहीं हैं। कौन उड़े अज्ञात में, अज्ञेय में? लाखों में वही, जो विराट होने का इच्छुक है, स्वयं के पंखों की क्षमता से विराटता को आत्मसात् करना चाहता है।

कहते हैं : एक राहगीर किसी मुसाफिरखाने में रुका। वह रात को बिस्तर पर सोया ही था कि कमरे में टंगे पिंजरे में से तोते की आवाज ने उसका ध्यान आकर्षित किया। तोता एक ही शब्द बार-बार दुहरा रहा था – 'स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता। शायद मालिक ने उसे यह सिखाया था। स्वतंत्रता शब्द के सुनते ही राहगीर को अपना अतीत याद हो आया। वह भी तो अपने देश के लिए कटघरे में, कारागृह में एक ही आवाज लगाया करता था – 'स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता'। मेरा राष्ट्र स्वतंत्र हुआ। तोता भी आजादी के लिए तिलमिला रहा है। पता नहीं किस मुए ने इसे कैद कर रखा है। उसे तोते पर तरस आई। उसने पिंजरे का द्वार खोल दिया। पर यह देखकर उसे आश्चर्य हुआ कि तोता पिंजरे से बाहर निकलने की बजाय और भीतर सिकुड़कर बैठ गया और स्वतंत्रता का आलाप गाए जा रहा है। राहगीर ने सोचा, शायद तोता उससे भयभीत है। उसने पिंजरे में हाथ डाला और बड़ी कठिनाई से तोते को बाहर निकालकर आसमान में उड़ा दिया। वह प्रसन्न था, इस बात से कि

आज उसने किसी को आजादी दी। वह आराम से सोया। उसकी नींद तब खुली, जब उसने सवेरे तोते की आवाज सुनी – स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता। उसने पाया कि तोता पिंजरे में बैठा आराम से भीगे चने और मिर्ची खा रहा है और बीच-बीच में उषा-गीत गा रहा है – स्वतंत्रता, स्वतंत्रता...।

हँस रहे हो। अरे, सबकी यही स्थिति है। अरदास स्वतंत्रता की करते हो और कार्य परतंत्रता के। अशांति से उकता भी गए हो और उसे छोड़ना भी नहीं चाहते। परमात्मा को पाना चाहते हो, पर उसके लिए न्योछावर होने को तैयार नहीं हो।

लोग मेरे पास आते हैं, कहते हैं, परमात्मा को कैसे प्राप्त करें; मन से बड़े परेशान हैं। मैं कहता हूँ, परमात्मा की बात बाद में करना, पहले स्वयं को शांतिमय बनाओ। ध्यान की सारी विधियाँ परमात्मा को पाने के लिए नहीं हैं, वरन् मन को शांत करने के लिए हैं। शांत मन ही परमात्मा का प्रवेश-द्वार है। पर हम हैं ऐसे कि कुछ शांति मिली और लौट गए। फिर अशांत हुए, फिर मेरे पास आए। समय काफी बीत रहा है, पर परमात्म-प्राप्ति के लिए नहीं, शांत मनःस्थिति पाने के लिए, पूर्व भूमिका बनाने के लिए।

अशांति तब तक रहेगी, जब तक हम तनाव, तृष्णा, मूर्च्छा, अविद्या से घिरे रहेंगे। हम मन को तिरोहित करने की कला समझें। नींद लेते समय जैसे हम शरीर को शांत करते हैं, वैसे ही मन को भी सुला दें। मन का सोना ही हमारे लिए शांति का आधारभूत अनुष्ठान है।

ऐसा करो, पहले बोधपूर्वक पाँच मिनट तक गहरे-लम्बे श्वास लो और छोड़ो। धीरे-धीरे उनकी गहराई तो बरकरार रखो, पर साँस की गति मंद करते जाओ। पहले साँसों के रेचन पर जोर दो, फिर ग्रहण पर। रेचन से चित्त की ऊहापोह शांत होती है। शांति के वातावरण में ही स्वयं का बोध साकार होने लगता है।

निश्चय ही, आज नहीं तो कल, हर व्यक्ति अस्तित्व-बोध के लिए समर्पित होगा। अभी कहाँ जी रहे हो, जरा मन से पूछो। मन मस्ती का प्यासा है। उसकी सारी सक्रियता किसी-न-किसी मस्ती के आलम को टोहती है। स्वर्ग की तलाश में हाथ क्या आते हैं? काँटे। उस स्वर्ग को काँटा न कहूँ, तो और क्या कहूँ जिसे पाने के बाद भी कुछ और, कहीं और पाना चाहते हो। स्वर्ग की सैर करके भी यदि संतुष्ट न हो पाए, तो वह स्वर्ग भी नरक की ही पीठ है।

मन की एक सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए उकसाता रहता है, किंतु प्राप्त होने पर वह जल्दी ही उससे ऊब जाता है। इसलिए मन की मस्ती मनुष्य के लिए अंततः घुटन है। पता नहीं, मन कहाँ-कहाँ की फेरी लगाता फिरता है। मनुष्य की निगाहें तो दो हैं, पर मन के पास हजार आँखों का विश्व-

कीर्तिमान है। सहस्राक्षी है मन। वह पर्यटन-प्रेमी है। घुमकड़ है। भटकता रहता है वह। दिन में ही नहीं, रात में भी। दिन में विचार-विकल्पों के रूप में और रात को सपनों के मायाजाल में। स्वप्न और विकल्प में ज्यादा फर्क नहीं है। 'स्वप्नो विकल्पाः'— विकल्प ही स्वप्न है। स्वप्न और विकल्प में कोई बुनियादी भेद नहीं है। दिन में उठने वाले विकल्प दबे हुए स्वप्न हैं और रात को आने वाले स्वप्न विकल्पों का हवाई परिदर्शन है। स्वप्न-मुक्त होना, निर्विकल्प हो जाना, मन की यात्रा का विराम पाना ही आत्म-बोध का गुह्य-द्वार है।

विकल्प हमारे भीतर की वृत्ति है। जब तक वृत्तियों के पार न चलोगे, तब तक जीवन की वास्तविकता वृत्तियाँ ही लगेंगी। योग-दर्शन के अनुसार 'वृत्ति-सारूप्यम्'— वह वृत्ति के अनुरूप ही अपना स्वरूप समझेगा। यह आत्म-प्रवंचना है। जब तक ऐसा है, वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न हो पाएगा। ज्ञान/बोध के बिना मनुष्य अस्तित्वगामी नहीं, वरन् मन का अनुगामी होगा। कभी काम के प्रवाह में, तो कभी मोह के गर्त में। कभी माया के मकड़जाल में, तो कभी क्रोध की ज्वाला में। यह मन है। मनुष्य का मन।

मनुष्य के पाँव चलते हैं एक दिशा में, मगर 'मनुआ तो चहुं दिसि फिरै'— मन तो दसों दिशाओं में घूमता है। वह चक्रवर्ती है। उसकी पहुँच चारों ओर है। बड़ी-बड़ी हस्तियों को नतमस्तक रहना पड़ता है उसके राज-दरबार में। परंतु एक ऐसा दरबार भी है, जहाँ उसका दबदबा नहीं है, एक ऐसी दिशा है— ग्यारहवीं दिशा— जहाँ वह नहीं पहुँचता। वह दरबार व्यक्ति के अंतस्तल में है। ग्यारहवीं दिशा स्वयं व्यक्ति के भीतर है। आठ दिशाएँ चारों तरफ हैं— पूर्व से नैऋत्य तक; एक ऊर्ध्व दिशा है और एक अधोदिशा, किंतु ग्यारहवीं दिशा तो तुम स्वयं हो। वहाँ मन की कोई गति नहीं है। वहाँ का प्रवेश-द्वार है— अमन, मनोमुक्ति।

एक व्यक्ति चश्मुद्दीन था। उसकी आँखों पर चश्मा लगा था, एक चश्मा हाथ में था। फिर भी वह एक चश्मा और खरीद रहा था। मैंने कारण पूछा। कहने लगा, एक चश्मा दूर के लिए है, एक नजदीक के लिए। मैंने पूछा, और ये तीसरा? बोला तीसरे की जरूरत इन दोनों को तलाशने के लिए। मैंने कहा, तब एक चश्मा और खरीद लो। कहने लगा— वह किसलिए? मैंने कहा, खुद को देखने के लिए। वह उपनेत्र भी चाहिए, जो दिखा सके तुम्हें मन के पार, निजत्व को।

हमें देखना-ढूँढ़ना चाहिए वह महालोक, जहाँ मन की गति नहीं है। जहाँ सिर्फ अंतर्दृष्टि एवं अंतर्संजगता की गति है। पहचानें मन के व्यक्तित्व को और उजागर करें द्रष्टा-स्वरूप को, ज्ञाता-स्वरूप को, साक्षी-स्वरूप को। एक बात का ध्यान रखें कि मन स्वयं कोई ऊर्जा नहीं है। वह तो मशीन है। जब मनुष्य उसे ऊर्जा देता है, तो

वह गतिशील होता है। यदि गाड़ी को धक्का लगाना बंद कर दो, तो वह अपने-आप ठप्प हो जाएगी। गाड़ी को रोकना भी चाहते हो और धक्का भी लगातार अविराम मारे जा रहे हो, तो गाड़ी भला रुकेगी कैसे? घड़ी में जब तक चाबी भरते रहोगे, वह टिक-टिक करती रहेगी। यदि यह टिक-टिक तुम्हारा जीना, सोना हराम कर रही है, तो चाबी भरनी बंद करो। उसे ढीली छोड़ो। द्रष्टा-भाव का सूर्योदय होने दें अस्तित्व के आँगन में। कार का एक्सीलेटर और ब्रेक – दोनों एक साथ दबाना तो मूर्खता है।

आमतौर पर हर आदमी की यह शिकायत रहती है कि 'मन बड़ा दौड़ता है'। मन तो दौड़ेगा ही, जब तक दौड़ का साथ निभाओगे। दो पाँवों में से किसी एक पाँव को तो रोको, दूसरा स्वयमेव रुक जाएगा। गाड़ी का कोई-सा एक चक्का खोल दो, गाड़ी खुद-ब-खुद रुक जाएगी, दूसरे चक्के को बिना खोले ही। हम तो अपनी स्मृति, सुरति, सजगता, संलीनता अंतर्घर की ओर लगाएँ। बड़ा प्यारा पद है –

सुमिरन सुरत लगाइकै, मुख ते कछू न बोल।

बाहर के पट देखकै, अंतर के पट खोल॥

लोग पट खोलते हैं घूँघट के। ज्ञानीजन कहते हैं – अंतर के पट खोल। बाहर द्वार-दरवाजे हैं, भीतर जीवन के रहस्यों के पर्दे हैं। हम उन पर्दों को खोलें। 'सुमिरन सुरत लगाइकै' – अपनी स्मृति को आत्म-तत्त्व के साथ, परमात्म-तत्त्व के साथ लगाएँ। बाहर का बड़बोलापन बंद करें, भीतर के स्वर सुनें। मन की शांति ही जीवन-जगत् के अंतरहस्यों को पहचानने की कला है।

लोग बैठते हैं पूजा के वक्त लाउडस्पीकर लगाकर। शायद यही सोचकर कि भगवान् तक उनकी प्रार्थना की आवाज पहुँचे। भगवान् यदि आकाश में, स्वर्ग में या स्वर्ग से ऊपर रहते हैं, तब भी आवाज नहीं जा सकती, चाहे लाउडस्पीकर लगा लो और यदि परमात्मा कण-कण में हैं, स्वयं के पास हैं तो वह गूँगे की भी प्रार्थना सुन लेंगे।

हरिद्वार में मैं एक आश्रम में ठहरा था। सवेरे पाँच बजे वहाँ के पुजारी ने मंदिर में बैठकर लाउडस्पीकर में भगवान् की प्रार्थना के स्तोत्र बोलने शुरू किए। वैसे भी संत की आवाज जोर की थी और उसमें भी लाउडस्पीकर तेज। मैंने कहा, मंदिर में और कोई नहीं है, आप मन में ही स्तोत्र-स्मरण कर लें। कहने लगे, स्तोत्र तो जोर से ही बोलने चाहिएँ, ताकि...। मैंने कहा, ताकि भगवान् सुन सकें। कहने लगे, 'नहीं, लोग सुन सकें।'

पुजारी भगवान् के लिए नहीं, लोगों के लिए स्तोत्र-पाठ कर रहा है। लोग जान लें कि पुजारी ने स्तोत्र-पाठ कर लिया है, ताकि पुजारी की दान-दक्षिणा में सुविधा रहे।

प्रार्थना जोर से भगवान् को पुकारना नहीं है। प्रार्थना तो परमात्म-स्मृति है, अहोभाव है। हम मंदिर इसलिए जाते हैं, क्योंकि वहाँ जाने से शांति मिलती है। पर जहाँ कोलाहल-ही-कोलाहल हो रहा हो, वहाँ शांति कहाँ ! मंदिर जाओ, मौनपूर्वक, परमात्मा की स्मृति से भरे। काव्य-पाठ बहुत हो गए, अब खुद काव्य बनो। अब तो शांति साधो, मन की शांति, उठापटक की शांति। एक ऐसी गहन शांति अंतर्मन में उतरने दो ताकि सुन सको अंतरात्मा का बंशीरव, पहचान सको परमात्मा का मधुरिम स्वर। आत्मा और परमात्मा के बोल इतने धीमे हैं कि उन्हें सुनने और पहचानने के लिए आदमी को गहन शांत होना होगा। इतना शांत जितना यह हिमालय है, ये देवदार के वृक्ष हैं। **परम शांति, परम स्वरूप के परिचय की पूर्व-भूमिका है।** हम सहज जिज्ञासा भाव से अंतर्बोध की ओर उतरें। खेद-उद्वेग, संग-असंग से स्वयं को बचाकर रखें। शांत मन के लिए ध्यान धरें और ध्यान के लिए प्रतिक्षण-प्रतिपल भीतर-बाहर सजग सचेतन रहें। सजगता ही सूत्र है, सजगता ही आधार है, सजगता ही द्वार है।

‘सुमिरन सुरत लगाइकै’— अपनी सुरति, अपनी स्मृति उस ‘तत्त्वमसि’ में लगाएँ। सुरति मार्ग है। स्मृति मार्ग है। अंतरमन में रहने वाली सतत आत्म-स्मृति ही ध्यान और योग है। ‘मुख से कछू न बोल’। अधिक बोलने की जरूरत नहीं है। नासमझ अधिक बोलते हैं। समझदार चुप रहते हैं, शांत रहते हैं। जरूरत हो तो बोलते हैं। **जरूरत हो, तो बोलना पुण्य है। बिना जरूरत के वाणी या किसी भी चीज का उपयोग करना पाप है।** दुनिया में वाणी नहीं, मौन अमर होता है। वाणी तो व्यक्त होती है और बिखर जाती है। मौन संगृहीत होता है और भीतर की ऊर्जा के रूप में विराट होता है। कबीर कहते हैं – ‘बाहर के पट देइके’ बाहर की बातों में, बाहर की गतिविधियों में रस लेने की बजाय ‘अंतर के पट खोल’। बाहर हो निर्लिप्तता और भीतर हो रसमयता। तू पट खोल, भीतर का पट खोल। बाहर अब तक कई दफा पट खोले हैं, एक पट ऐसा भी खुले जिसे हम अंतर का पट कहते हैं। बाहर के पट भीतर के पट को नहीं खोल पाएँगे, पर अंतर का पट खुल जाए तो बाहर के पटों के खुलने और न खुलने का कोई अर्थ नहीं रहता।

‘सुमिरन सुरत लगाइकै’ – हमारी स्मृति, हमारी लयलीनता अंतर्मुखी हो, तो अंतर का आनंद, अस्तित्व का आनंद स्वतः झरेगा। निजत्व का रस, निजत्व का सुकून स्वतः आत्मसात् होगा। स्वयं की सतत स्मृति रहे, आज के लिए यही सूत्र है।



वृत्ति, वृत्ति-बोध, वृत्ति-निरोध

मन की वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना
संसार की सबसे बड़ी आत्म-विजय है।



चित्त जीवन की अत्यंत सूक्ष्म संहिता है। यह शरीर और मस्तिष्क की सूक्ष्म अंतर-शक्ति है। इसका निर्माण सूक्ष्मतम परमाणुओं के जरिए हुआ है। इसलिए चित्त वास्तव में परमाणुओं की ढेरी है। जितने परमाणु, उतने ही चित्त के अभिव्यक्त रूप। परमाणुओं का क्या, सुई की नोक में अनगिनत परमाणु समा सकते हैं। इस दृष्टि से चित्त के परमाणु अनंत हैं। रेगिस्तान के रेतीले टीलों की तरह यह सटा-बिखरा पड़ा है। रेगिस्तान का हर कण टीले की तलहटी पर भी स्वतंत्र है और उसके शिखर पर भी। हमारा चित्त भी ऐसा ही है। चित्त के सारे परमाणु एक जैसे ही हों, यह कोई अनिवार्य नहीं है। चित्त के हजार जाल हैं। मकड़जाल भी और मायाजाल भी। इसका अपना तिलिस्म है। समान और समानांतर – दोनों संभावनाओं को यह अपने गर्भ-गृह में समेटे रख सकता है। देख नहीं रहे हो, जीवन कितने विरोधाभासों से भरा है। खट्टा-मीठा, तीखा-फीका, गुस्सैल-स्नेहिल। और इन सारे विरोधाभासों का सम्मेलन स्वयं हमारा चित्त है।

हमारे हिस्से के, सब छ्वाब बँटते जाते हैं।

वो दिन भी कट गए, यह दिन भी कटते जाते हैं॥

चित्त के द्वारा की जाने वाली हर पहल नए निर्माण का संकल्प है, किंतु उसका प्रत्येक निर्माण स्वयं उसी के लिए चुनौती है। आखिर जीवन के चौराहे पर एक ही मार्ग से यात्रा की जा सकती है, पर मनुष्य के लिए सबसे बड़ी समस्या यही है कि वह चौराहे के चारों मार्गों को एक साथ नाप लेना चाहता है। नतीजतन उसका जीवन आपाधापी के गलियारों में भटकता रहता है। वह चित्त और मन की उधेड़बुन में खोया रहता है।

मैं धर्म को जीवन की समग्र चिकित्सा और जीवन का संपूर्ण स्वास्थ्य स्वीकार करता हूँ। जीवन की जीवंतता मात्र शरीर की निरोगता में नहीं है, वरन् चित्त की स्वस्थता में है। जीवन कोरा शरीर नहीं है। वह शरीर और चित्त का मिलाप है। उसके पार भी है। चैतन्य-गंगोत्री ही तो वह आधार है, जहाँ से जीवन के सारे घटकों को ऊर्जा की ताजी धारा मिलती है।

धर्म का अर्थ किसी के सामने महज मत्था टेकना नहीं है, वरन् जीवन की धारा को बँटने-बिखरने से रोकना है। धर्म योग है और पतंजलि की भाषा में निरोध योग की पहल है – ‘योगश्चित्तवृत्ति निरोधः’। मैं धर्म की परिभाषा सिर्फ निरोध तक ही नहीं जोड़ूंगा, क्योंकि धर्म योग है और योग निरोध से भी बेहतर है। योग हमें जोड़ता है, एक धारा से, जीवन की धारा से। योग न केवल चित्त की वृत्तियों से हमें निवृत्त करता है, वरन् चैतन्य-जगत् की ओर प्रवृत्त भी करता है। चित्त के प्रवाह का निरोध और चैतन्य-प्रवाह से योग – यही धर्म का सार है।

चैतन्य-प्रेम ही तो साधना की नींव है। चैतन्य-भावना ही अहिंसा की आत्मा है। चैतन्य से प्रेम हो सकता है। प्रेम तो हमेशा अच्छा ही होता है। खतरा तो तब पैदा होता है, जब प्रेम सिर्फ मन का शरीर के साथ होता है। यह चैतन्य-प्रेम नहीं है। यह तो भोग-प्रेम है और हर भोग-प्रेम जीवन पर मन एवं वृत्तियों का प्रभुत्व है।

चैतन्य-जगत् से अनुराग करने वाले के लिए न करुणा है, न वात्सल्य। उसके लिए तो सिर्फ प्रेम और मैत्री ही है। करुणा हम तब करेंगे, जब अपने से ज्यादा किसी को करुणाशील मानेंगे। वात्सल्य की बारिश हमारे द्वार तब होगी, जब दूसरों को स्वयं से छोटा मानेंगे। क्या कभी सोचा कि महावीर जैसे बुद्ध पुरुष भी अपने शिष्यों को नमस्कार करते थे? महावीर की ‘णमो तित्थस्म’ शब्दावली की मूल भावना यही है। नमस्कार छोटे कद, बड़े कद, छोटी उम्र/बड़ी उम्र से जुड़ा नहीं होता। नमस्कार का संबंध तो चेतना से है। जीवित को नमस्कार किया जाता है और मृत को दफनाया जाता है। जिसे क्षुद्र समझते हैं, चैतन्य पुरुष की दृष्टि में उसमें भी वही विराट संभावनाएँ हैं, जो स्वयं उसमें किसी के फूल की पंखुड़ियों की तरह खिली हैं। उन संभावनाओं को मेरे भी प्रणाम हैं।

मैं यह कहना चाहूँगा कि वे विराट संभावनाएँ हम सबसे जुड़ी हैं। जब तक वे आत्मसात् न हो जाएँ, तब तक सिर्फ वाणी-विलास लगती हैं। अभिव्यक्ति सशक्त तभी होती है, जब वह अनुभूति के साँचे से ढलकर गुजरती है। अभ्यास से सब कुछ सहज होता है, अगर बाहर में राहों को तलाशती आँखें जरा भी भीतर मुड़ जाएँ, चेतना सत्यद्रष्टा हो जाए, तो जीवन के देवदार वृक्षों पर बड़ी आसानी से चढ़ा जा सकेगा। जीवन के बाहरी दायरों में आनंद को ढूँढ़ती निगाहों को थोड़ा समझाएँ। आकर्षण और विकर्षण से कुछ ऊपर उठें और साधें स्वयं को प्रयत्नपूर्वक –

‘अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः’। अभ्यास की निरंतरता और अनासक्ति के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध किया जा सकता है, चित्त को शांतिमय बनाया जा सकता है।

चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से संपन्न होता है। यदि जीवन के अंतर्विश्व का ग्लोब बड़ी बारीकी से पढ़ना है, तो चित्त-वृत्तियों के कोहरे के धुंधलेपन को पहले साफ करना होगा। हम देखना तो चाहते हैं हिमालय के इन बर्फीले पर्वतों को, पर ये जो कोहरा छाया है, वातावरण में जो ओस घिरी है, तो वे कहाँ से दिखाई देंगे। अनुमान से अगर हलकी-सी झलक भी पा लें, तो बात अलग है। पते की बात तो कोहरे के हटने पर ही निर्भर है। इसलिए सबसे पहले हम समझें जीवन के कोहरे को, कोहरे के कारणों को, चित्त को, चित्त की वृत्तियों को।

चित्त के टीले इसी हिमालय की तरह लंबे-चौड़े और बिखरे-बसे हैं। चित्त के धरातल पर उसके अपने समाज हैं, विद्यालय हैं, खेत-खलिहान हैं, पहाड़ी रास्ते हैं। उसका अपना आकाश है और अपना रसातल है। वहाँ बसंत के रंग भी हैं और पतझड़ के पत्र-झरे वृक्ष-कंकाल भी। चित्त की अपनी संभावनाएँ होती हैं। आखिर सबका लेखा-जोखा दो टूक शब्दों में तो नहीं किया जा सकता। जहाँ वर्णन और विश्लेषण करते हुए आदमी थक जाता है, वहाँ सीमा पर अनंत शब्द उभरने लगता है। इसलिए यही कहना बेहतर होगा कि चित्त की वृत्तियाँ अनंत हैं यानी इतनी हैं जिन्हें न गिना जा सकता है और न नापा जा सकता है। पर हां, अगर ध्यान दें तो चीन्हा अवश्य जा सकता है। **अपने चित्त को पहचानना मुक्ति की ओर उठा पहला सार्थक कदम है।**

हिमालय में बैठे हैं, पर कुदरत के रंग कितने तब्दील होते जा रहे हैं। कुदरत के सौ रूप दिन-भर में दिखाई देते हैं। चित्त के भी ऐसे ही खेल होते हैं। कभी यह इतना विकृत हो जाता है, जितना कोई पशु हो। कभी यह इतना सुंदर हो जाता है, जितना मसूरी के पहाड़ों के बीच आसमान में खिला यह इंद्रधनुष। कभी यह प्रेम की फुहारों से रसपूर्ण हो जाता है, तो कभी यह गुस्से में साँप-बिच्छू जैसा हो जाता है। कभी यह दया और दान से प्रेरित होकर अपना सब-कुछ लुटाने को तैयार हो जाता है, तो कभी स्वार्थ में अंधा होकर औरों को लूटना शुरू कर देता है। यह चित्त है ही ऐसा। पल में राजी, पल में नाराज। पल में मधुर, पल में विषैला। पल में विकार, पल में संस्कार। धूप-छाँव-सा खेल है इसका। कोई समझ ही नहीं पाया है अपने मन को, चित्त को। हर कोई उलझा है उसके प्रभाव में। यही सबके जीवन का प्रेरक तत्त्व बना बैठा है। जैसा जिसका चित्त, वैसी ही उसकी सोच, वैसी ही उसकी लेश्याएँ।

महावीर ने चित्त-वृत्तियों को समझने के लिए एक माकूल उदाहरण दरसाया है। वे कहते हैं कि छह राहगीर किसी पहाड़ी रास्ते से गुजर रहे थे। उन्हें भूख लगी।

उन्होंने दूर से एक वृक्ष देखा, जो फलों से लदा हुआ था। उनमें से एक राहगीर ने सोचा कि इस पेड़ को जड़ से उखाड़ दिया जाए ताकि फल तोड़ने के लिए पेड़ पर चढ़ने की जरूरत ही न रहे। भरपेट फल खाऊँगा और आगे चलते समय अपना झोला भी भर लूँगा। दूसरे राहगीर के मन में तना काटने का विकल्प बना। तीसरे ने शाखा काटने की सोची। चौथे ने डाली और पाँचवें ने फल तोड़ने का विचार किया। परंतु साथ चल रहे छठे राहगीर ने सोचा, पेड़ हरा-भरा है और फलों से लदा है। फल पेड़ की संपत्ति है। उसे भी जीने का अधिकार है। मुझे भूख लगी है, जरूर पेड़ के नीचे कुछ-न-कुछ फल पेड़ से गिरे/पड़े मिल जाएँगे। मैं उन्हें खाऊँगा और परितृप्त होकर आगे की यात्रा करूँगा।

महावीर की यह कथा प्रतीकात्मक है। वे छह राहगीरों के माध्यम से मनुष्य की अलग-अलग चित्त-वृत्तियाँ समझाने की कोशिश करते हैं। उनके अनुसार जो आदमी किसी को जड़ से उखाड़ने की सोचता है, वह कलुषित है। उसकी अंतर्वृत्तियाँ काली-कलूटी हैं। तना काटने की सोचने वाला इंसान जड़ वाले की अपेक्षा कुछ कम कलुषित है। यों समझिए, वह नीले रंग का है। शाखा तोड़ने की सोचने वाला नीले से कुछ ठीक है। समझने के लिए उसका रंग आकाशी या कबूतरी है। डाली के विकल्प वाला इन तीनों की अपेक्षा कुछ तेजस्वी है। उसका रंग ढलते सूरज की तरह है। फल के विकल्पों वाला होठों के मुस्कराते गुलाबी रंग जैसा है। वहीं छठा राहगीर, जो वृत्तियों से स्वस्थ है, किसी को सुख देते हुए स्वयं को सुखी महसूस करता है, सत्त्वयोगी है। किसी के फलों को छीनना अतिक्रमण है। अस्तित्व की रक्षा के लिए वृक्ष स्वयं फल देता है। ऐसे वृत्ति-स्वस्थ लोगों के चित्त के आकाश में पूर्णिमा-सा चाँद खिला रहता है। जिसका अंतःकरण साफ-सुथरा और स्वच्छ है, वह उतना ही अमल-धवल है, जितना यह हिमालय।

वृत्ति का यह आरोहण और अवरोहण महावीर की भाषा में लेश्या है। वृत्ति के ये छः प्रतीक वास्तव में लेश्या के छः सोपान हैं। योग जिसे षट्चक्र कहता है, अर्हत् उसे षट्लेश्या कहते हैं। इन लेश्याओं और छः चक्रों को हम षट् शरीर भी कह सकते हैं। आभामंडल/आँरा की उज्वलता इसी लेश्या-शुद्धि पर निर्भर है।

पर सावधान, वृत्ति उज्वल भी क्यों न हो, आखिर है तो वृत्ति ही। जिसे ज्ञानियों ने निवृत्ति कहा है, वह कोई सामान्य वृत्ति से परे होना नहीं है। निवृत्ति सही अर्थों में तभी जीवन की निर्मल चेतना बन पाती है, जब व्यक्ति अमल-धवल, शुक्ल-वृत्ति से भी चार कदम आगे बढ़ जाता है। आत्म-बोध और आत्म-सर्वज्ञता का बोध, वृत्ति से मुक्त होने पर ही फलित होता है।

वृत्तियों में कुछ वृत्तियाँ शुभ होती हैं और कुछ अशुभ। अशुभ से शुभ भली

हैं, किंतु शुद्धता तो अशुभ और शुभ दोनों के पार है। पाँवों की जंजीरें लोहे की हों, बर्दाश्त के बाहर हैं। सोने की जंजीरें सुहाएँगी जरूर, किंतु बाँधकर तो वे भी रखेंगी। सोने और लोहे का भेद तो मात्र मूल्यांकन का दृष्टिभेद है। आकाश में उड़ान तो तभी हो पाएगी, जब पंछी पिंजरे के सींखचों से मुक्त होगा।

वृत्तियाँ क्लिष्ट भी हो सकती हैं और अक्लिष्ट भी। अक्लिष्ट वृत्तियों की रोशनी क्लिष्ट वृत्तियों के अंधकार को जीवन के जंग-मैदान से खदेड़ने के लिए है। अक्लेश से क्लेश को, शुभ से अशुभ को, सत् से असत् को दूर किया जा सकता है। 'मृत्योर्मांसमृतं गमय' - ले चलें हम स्वयं को मर्त्य से अमर्त्य की ओर, अमृत की ओर।

हम अपनी वृत्तियों का बोध प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी कर सकते हैं, अनुमानों से भी कर सकते हैं और सद्गुरु के अमृत वचनों से भी। राग क्लिष्ट है और वैराग्य अक्लिष्ट, किंतु वीतरागता राग व विराग दोनों से ऊपर है। संसार में स्वयं की संलग्नता व गतिविधियों के कारण हम मानसिक तनाव को प्रत्यक्षतः झेलते हैं, किंतु समाधि को दुःखों से मुक्त होने का आधार मान सकते हैं। यदि व्यक्ति अज्ञान में दिशाएँ भूल चुका है, तो सद्गुरु ही उसके जीवन का सही मार्ग-दर्शन कर सकता है। जहाँ सद्गुरु का बाण किसी व्यक्ति के हृदय को बीधता है तो स्वतः क्लेश, अज्ञान और मूर्च्छा का प्रभाव निस्तेज हो जाता है। भीतर की सारी रोम-राजी पुलकित हो जाती है। रोशनी की सुखद बौछारें बरसने लगती हैं। अंतर्मन का स्वरूप चंदन की केशरिया फुहारों से आनंदित हो उठता है।

गूंगा हुआ बावरा, बहरा हुआ कान।
पाँवां न्है पंगुल भया, सद्गुरु मार्या बाण॥

सद्गुरु तो बाण लिए खड़ा है। उसका तो प्रयास यही है कि उसका ज्ञान का बाण, उसके ज्ञान की किरण किसी के हृदय को बीधे। वह बाण छोड़ता तो कइयों पर है, पर बिंधते तो सौ में दो ही हैं। तुम बाण को देखते ही या तो स्वयं को पत्थर हृदय बना लेते हो या दुबककर लक्ष्य से स्वयं को खिसका लेते हो। उल्लू अपनी आँखों को खुला भी रखना चाहता है और स्वयं को रोशनी में ले जाना भी नहीं चाहता है। महाज्योति को आत्मसात् भी करना चाहते हो और वहाँ जाते हुए भयभीत और सशंकित भी होते हो। यदि ऐसी स्थिति में बिदक जाएँ, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

“मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यो अरुझाई रे।”

सद्गुरु तो समाधान की बात कह रहा है और तुम उसे उलझन समझ रहे हो। “मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।” सद्गुरु तो आत्म-जागृति के गीत

सुना रहा है और तुम हो ऐसे जो गीत को लोरी मान रहे हो। खाट के पालने में लला की तरह बेसुध सो रहे हो। हम जरा सँभलें। जब तक स्वयं कुछ न हो जाएँ, तब तक वही होने दें, जो सद्गुरु चाहता है।

सद्गुरु वह, जो पहुँचा है। सद्गुरु वह, जो ज्योति को उपलब्ध हुआ है। सद्गुरु वह, जो चित्त की उठापटक से उपरत हुआ है। जब तक हम उपरत न हों, तब तक गुरु का सान्निध्य, गुरु की संगत, गुरु का मार्गदर्शन, गुरु के शब्द हमारे लिए पुनः-पुनः गंगा-स्नान करने जैसा है।

वृत्ति का एक और स्थूल रूप है, जिसे विपर्यय कहा जाता है। विपर्यय अज्ञान है। जो जैसा है, उसके बिल्कुल विपरीत मान लेना विपर्यय है, जैसे सीप में चाँदी का अहसास होता है, साँप रस्सी की भाँति दिखाई देता है। वह मिथ्या ज्ञान है, अविद्या है, माया है। रस्सी को सर्प मानोगे, तो यह अज्ञान उतना खतरनाक नहीं होगा, जितना साँप को रस्सी मानकर पकड़ लेना। विपर्यय चित्त की वृत्ति क्लेशपूर्ण है। यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार उपलब्ध हो जाएँ, तो बोधि के द्वार उद्घाटित हो सकते हैं।

चित्त की एक सबसे भयंकर और खतरे से घिरी वृत्ति है – विकल्प। विकल्प शब्द का अनुयायी होता है। वास्तव में जिसका विषय ही नहीं है, वही विकल्प है। शब्द के आधार पर पदार्थ की कल्पना करने वाली जो चित्त-वृत्ति है, वह विकल्प-वृत्ति है। चित्त के विकल्प ही स्वप्न बनते हैं। जिसका न कोई तीर है, न तुक्का: कोई ओर है, न छोर; उसे दिमाग में चलते रहने देते हो, यही तो मनुष्य के लिए अशांति और बेचैनी भरा कोलाहल है।

स्वप्न मात्र असत्य है। स्वप्न का सत्य असत्य से भी खतरनाक है। स्वप्न चित्त का मायाजाल है। विकल्पों की उधेड़बुन का नाम ही स्वप्न है। स्वप्न अनिद्रा है, स्वप्न चित्त की बेलगाम दौड़ है।

आदमी सिर्फ रात में ही सपने नहीं देखता, दिन में भी स्वप्न-भरी पहाड़ी पगडंडियों पर विचरता है। दिन में स्वप्न विकल्प बन जाते हैं और रात में वही विकल्प स्वप्न के पंख पहन लेते हैं। स्वप्न तो दिन में भी ले रहे हो, पर आँखें रोजमर्रा की जिंदगी में इस तरह लगी हैं कि वे स्वप्न नहीं देख पातीं। वे स्वप्न दबे हुए स्वप्न हैं। रात को जब खाट पर आराम से सोते हो, तब वे फुरसत के क्षणों में स्वप्न की साकारता ले लेते हैं।

कहते हैं : शेखचिल्ली दैनिक मजदूरी पर काम किया करता था। वह गाँव भर में चक्कर लगाकर अनोखे-अनोखे काम ढूँढा करता।

एक दिन एक सेठ ने कहा कि 'मेरा दस किलो घी मेरे घर पहुँचा दो, तो मैं

तुम्हें दस पैसे दूँगा।’

घर केवल एक मील दूर था। शेखचिल्ली तुरंत तैयार हो गया। जैसे ही उसने घी का घड़ा सिर पर रखा और कदम बढ़ाए कि उसके मन में तरह-तरह के विकल्प उमड़ने लगे। वह कल्पनाओं में खो गया। हर कदम पर उसके दिवा-स्वप्नों के पर निकलने लगे। वह ऊँचा, और ऊँचा उड़ने लगा।

वह सोचने लगा, इस काम से मुझे दस पैसे मिलेंगे, मैं उससे एक बकरी खरीदूँगा। बकरी मुझे खूब दूध देगी। दूध बेचकर मेरे पास बहुत सारे पैसे हो जाएँगे। उससे मैं एक घर बनवाऊँगा। एक सुंदर-सी पत्नी लाऊँगा। फिर मेरे बच्चे होंगे। तब तक मेरे पास छोटी-सी दुकान खोलने के लिए पैसे हो जाएँगे। मैं जब अपनी दुकान में बैठा होऊँगा, मेरा बेटा मुझे भोजन के लिए बुलाने आएगा, पर मेरे पास तब समय कहाँ होगा। ग्राहकों की भीड़ होगी, मैं काम में व्यस्त होऊँगा। तब मैं सिर हिलाकर ही उसे कहूँगा कि नहीं, अभी नहीं, बाद में।

बेचारा शेखचिल्ली। जैसे ही उसने मना करने के लिए सिर हिलाया कि घी का घड़ा सिर से जमीन पर गिर पड़ा। घी मिट्टी में बिखर गया। सेठ ने उसे डाँटते हुए कहा, तूने घी का घड़ा गिराकर मेरा धंधा चौपट कर दिया। शेखचिल्ली बोला, सेठ, मुझे अफसोस है, पर घी का घड़ा क्या गिरा, मेरा तो सारा घर-संसार ही चौपट हो गया।

वृत्तियों, विकल्पों और कल्पनाओं से घिरा यह मन, यह चित्त यों ही महल बनाता रहता है। यही मन है जो रावण की सोने की लंका बनाता रहता है, पर जैसे सोने की लंका जलकर नष्ट हो गई, वैसे ही इस संसार में मन के द्वारा रचा गया संसार भी अनित्य है। जिसने अनित्य को अनित्य रूप जाना और नित्य को नित्य रूप, उसी के मन में शांति है, वही निवृत्ति ओर मुक्ति का स्वामी हो सकता है।

यही कारण है कि वृत्तियों में प्रमुख वृत्ति विकल्प ही मानी जाती है। जो निर्विकल्प हो गया, वह सिर्फ विकल्पों से ही मुक्त नहीं हुआ, अपितु वृत्तियों की धारा से ही मुक्त हो गया क्योंकि आखिर चाहे प्रमाण-वृत्ति हो या विपर्यय, सब विकल्प ही है।

विपर्यय-वृत्ति में विद्यमान वस्तु के स्वरूप का विपरीत ज्ञान होता है और विकल्प-वृत्ति में वस्तु का तो कहीं कोई अता-पता नहीं होता। सिर्फ शाब्दिक कल्पना से ताने-बाने गुंथे जाते हैं। कैसा मधुर व्यंग्य है कि नग्नता के लिए भी चर्खे पर रूई काती जा रही है। विकल्प केवल संसार के ही नहीं होते, संन्यास के भी होते हैं।

कई बार लोग मुझे कहते हैं कि हमें ध्यान में आज अमुक तीर्थ या तीर्थ की मूर्ति के दर्शन हुए। यह ध्यान की प्राथमिक उपलब्धि है, पर आखिरी उपलब्धि नहीं। यह 'अक्लिष्ट-विकल्प' की अभिव्यक्ति है। ध्यान में कोई भगवान या देवी-देवता की मूर्ति दिखाई देती हो तो यह वही देख रहे हो, जिसे पहले देख चुके हो। ध्यान से यदि कुछ प्रकट होता है तो वह मूर्ति के रूप में नहीं, अपितु भगवत्ता के रूप में आत्मसात् होता है। ध्यान की मंजिल के करीब पहुँचते-पहुँचते तो साधक गुरु, ग्रंथ और मूर्ति – तीनों के पार चला जाता है।

जब चेतना स्वयं ही परमात्म-स्वरूप बन रही हो, तो वह मंदिर-मस्जिद की आँख-मिचौली नहीं खेलेगी। उस देहरी पर जो होगा, वास्तविक होगा। जैसा होगा, प्रत्यक्ष होगा। फिर हवा के कारण पेड़ के पत्ते नहीं झूमेंगे, वरन् अपनी जीवंतता के कारण इठलाएँगे। तब बुद्ध का मौन और मीरा का नृत्य स्वतः साकार होगा। पहले हम मनगढ़ंत बातों से बाहर आएँ और उन सारे मिथ्या आग्रहों से स्वयं को मुक्त करें, जिनको हमने किसी विकल्प के नाम पर ग्रहण कर लिया है, जिस पर हम मूर्च्छित या आसक्त हो गए हैं। हम अपने बनाए या किराए पर लिए हुए उधार खाते के विकल्पों ऊपर उठें। जितना देखा और जितना जाना, उसका अंतर्मथन करें और फिर सार को रखें और थोथा को सहज भाव से त्याग दें।

चित्त की एक और कही जा सकने योग्य वृत्ति है और वह है मूर्च्छा। पतंजलि जिसे निद्रा कहते हैं, वही मूर्च्छा है। मूर्च्छा आत्मघातक है। मूर्च्छा ही संसार है। मूर्च्छा बेहोशी है। बेहोशी में किया गया पुण्य भी पाप का कारण बन सकता है और होशपूर्वक किया गया पाप भी पुण्य की भूमिका का निर्माण कर सकता है। प्रश्न न तो पाप का है, न पुण्य का। महत्त्व सिर्फ होश और जागरूकता का है। जहाँ जागरूकता है वहाँ चैतन्य की पहल है। यह जागरूकता ही यत्न है, यही विवेक है और यही सम्यक् बोधि है। जागृति धर्म है और निद्रा अधर्म। धार्मिक जगें, क्योंकि उनका जगना ही श्रेयस्कर है। भगवान अधार्मिकों को सदा सोये रखें, क्योंकि इसी में विश्व का कल्याण है। जिस दिन अधार्मिक जगा, उसी दिन खुदा की नींद भी हराम हो जाएगी और यह कहते हुए स्वयं विधाता को धरती पर आना होगा –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

इसलिए आत्मजागरण ही धर्म की भूमिका है और यही साधना का उपसंहार भी। जहाँ सम्राट भरत और राजा जनक जैसी अनासक्ति तथा अंतर्जागरूकता है, वहाँ गृहस्थ-जीवन में भी संन्यास के कमल खिल जाते हैं।

चित्त की वृत्तियों और चित्त के संस्कारों से मुक्त होने के लिए सजगता,

सहजता और निर्लिप्तता प्रथम और अंतिम चरण है। सजगता साधना की नींव है, मुक्ति की दीपशिखा। श्वास, संवेदना और संस्कार – तीनों के प्रति सजग और सचेतन रहकर हम मूर्च्छा के लंगर खोल सकते हैं, मूर्च्छा से बाहर आ सकते हैं, सत्य और बोध की सुवास और प्रकाश आत्मसात् कर सकते हैं।

चित्त की एक और वृत्ति है जिसे हम स्मृति कहते हैं। यही तो वह वृत्ति है, जिसके चलते जीवन का अध्यात्म पेंडुलम की तरह अधर में लटका रहता है। जीवन वर्तमान है, पर लोग जीवन को यादों और स्मृतियों के कटघरे में ही खड़ा रखते हैं। वे या तो अतीत के अंधे कूप में गिरे रहकर काले पानी में गल-सड़ जाते हैं, या फिर भविष्य के आकाश में कल्पनाओं के चक्कर लगाते हैं।

शाश्वतता तो न केवल अतीत और भविष्य से अपना अलग अस्तित्व रखती है, अपितु वर्तमान की उठापटक से भी मुक्त है। अतीत, वर्तमान या भविष्य जैसे शब्द शाश्वतता के शब्द-कोश में नहीं आते। उसके साथ न कभी 'था' का प्रयोग होता है और न कभी 'गा' का। उसके लिए तो सिर्फ 'है' का प्रयोग होता है – अतीत में भी और भविष्य में भी।

चित्त की वृत्तियाँ चंचल हैं। लक्ष्मी की तरह नहीं, अपितु लक्ष्मी से भी ज्यादा चंचल हैं। मौसम की तरह नहीं, अपितु मौसम से भी बढ़कर। तुम देख रहे हो सागर और सरोवर की तरंगों और मैं देख रहा हूँ हवा की लहरें, पर कभी-कभी ऐसा लगता है कि चित्त का घोड़ा हवा से भी ज्यादा तेज बहता है। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' किंतु अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध संभव है। चित्त की स्थिरता के लिए प्रयत्न करना अभ्यास है तथा देखे और सुने हुए विषयों का उपभोक्ता होने के बजाय द्रष्टा हो जाना, उनको पाने की आशा और स्मृति से रहित हो जाना वैराग्य है।

पतंजलि ने जिसे अभ्यास कहा है, मैं उसी को सजगता और सचेतता कहता हूँ। जहाँ जीवन, जगत् और स्वयं की मनःस्थिति तथा जगत् की विभिन्न घटनाओं के प्रति सजगता रहती है, वैराग्य की उषा धीरे-धीरे प्रगाढ़ होती चली जाती है। पता नहीं, व्यक्ति कब किस मनःस्थिति में हो और उसके समक्ष कब कौन-सी घटना घट जाए और वह घटना उसके मनोभावों को प्रेरित-प्रभावित-उद्वेलित कर दे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

बुद्ध के जीवन में ऐसी ही मंगल प्रेरणादायिनी घटना घटी कि सारी सुखसुविधाओं को लात मारकर मुक्ति के मार्ग की ओर बुद्ध पराक्रमशील हो उठे। यों तो किसी बूढ़े, बीमार, मुर्दे या संन्यासी को देख लेना कोई असाधारण बात नहीं है। लोग देखते ही रहते हैं। हो सकता है कि राजा शुद्धोधन ने अपने पुत्र सिद्धार्थ को निवृत्ति-मार्ग

की ओर जाने से रोकने के लिए विलास, वैभव और आमोद-प्रमोद के बंदोबस्त किए होंगे। यह भी मान लेते हैं कि बुद्ध को पहले कभी किसी मुर्दे को देखने का मौका नहीं मिला होगा। पर बूढ़ा तो देखा ही होगा। हो सकता है, कर्मचारी युवा रखे होंगे, पर शुद्धोधन स्वयं भी तो करीब साठ-सत्तर साल के हो गए थे, जब बुद्ध बीस-पच्चीस के हुए होंगे। निश्चय ही राजकुमार ने पहले भी पके हुए बाल, चेहरे की झुर्रियाँ, रोग से पीड़ाग्रस्त लोग देखे होंगे। राजघराने में संतों को भी आते-जाते देखा होगा, पर जिस दिन बुद्ध वैराग्य को उपलब्ध हुए, उस दिन जरूर वे किसी ऐसी मनःस्थिति से आपूरित थे कि उस दिन नजरों के सामने आया बूढ़ा उन्हें बुढ़ापे का अहसास करा गया होगा। बीमार ने उन्हें देह-धर्मों का अहसास करा दिया होगा। मुर्दे से उन्हें जीवन की अंतिम अवस्था का बोध हो गया होगा। संन्यासी उनके लिए मुक्ति-द्वार को खोलने वाला प्रहरी बन गया होगा। बस, ऐसी प्रबल प्रेरणा जाग उठी कि जीवन की दिशाएँ ही बदल गईं। सजग, सचेतन और चिंतनशील व्यक्ति की मेधा और प्रज्ञा कब जाग उठे, कब मूर्च्छा टूट जाए, कब व्यक्ति बोधि को छू ले, समाधि और जीवन के उन्मुक्त आकाश में छल्लाँगा लगा दे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

सजगता चाहिए, अनासक्ति चाहिए, विचारने की मेधा चाहिए, फिर पता नहीं कब किसके जीवन में मुक्त आकाश साकार हो उठे, कब कोहरा छँट जाए, कहा नहीं जा सकता।

जहाँ वैराग्य है और अभ्यास भी है, वहाँ योग के अंतद्वार स्वतः उघड़ने लगते हैं। आइए, हम मुक्ति के उन्मुक्त आकाश की ओर चलें। वहाँ हमारी प्रतीक्षा हो रही है। पलकें झुक जाएँ, दृष्टि अंतर्मुखी, शांत, सहज, अंतर्दर्शन, अंतर्बोध, आत्मयोग।

निश्चय ही मन की वृत्तियों पर विजय पाना कठिन है। पर मन के गुलाम होकर जीने की बजाय मन की वृत्तियों पर अपना अंकुश रखना अधिक श्रेष्ठ है। नासमझ लोग वृत्तियों के गुलाम होते हैं। जिन्हें सम्यक् समझ उपलब्ध हो गई, वे वृत्ति-भाव के मात्र साक्षी हो जाते हैं। वे वृत्तियों से उपरत हो जाते हैं। वे आत्मजित् हो जाते हैं। मन के विकारों और मन की वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना संसार की सबसे बड़ी विजय है। वृत्तियाँ हमारे लिए चुनौती स्वरूप हैं। कोई महावीर-बुद्ध जैसा पराक्रमशील ही जितेंद्रिय बन सकता है, निर्वृत्ति और परावृत्ति को उपलब्ध हो सकता है।



भेद-विज्ञान : साधक की अंतर्दृष्टि

ज्ञान उसी का है, जो उसे जिए।
सत्य उसी का है, जो उसे आत्मसात् करे।



जीवन-गंगा की पहली धारा बड़ी बारीक है। यदि हम जीवन की यात्रा को गहराई पूर्वक निहारें, तो जीवन का बोध आत्मसात् हो सकता है। अध्यात्म की प्यास जीवन के बारीक सर्वेक्षण से ही जगती है। प्यास की लौ जितनी तीव्र होगी, अतिक्रमण प्रतिक्रमण में रूपांतरित होता जाएगा।

जीवन के घेरे में दो दिशाएँ नजर-मुहैया होती हैं। उनमें एक तो है आक्रमण और दूसरी दिशा है प्रतिक्रमण। दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं – पूर्व-पश्चिम की तरह। अतिक्रमण की भाषा आक्रमण के रास्ते से ही होती है। आक्रमण पौरुष का संघर्ष है। अतिक्रमण आक्रमण की खतरनाक व्यूह-रचना है। हमारी जीवंतता और समझ, मर्यादा और औचित्य सबको लाँघ जाता है अतिक्रमण। अतिक्रमण बलात् चेष्टा है, ज्यादाती है।

प्रतिक्रमण जोश की भाषा नहीं है। यह होश की अभिव्यक्ति है। इसमें जोर-जबरन कुछ भी नहीं होता। इसमें सिर्फ पुनर्वापसी होती है। परिधि से केंद्र की ओर, संसार से चेतना की ओर लौट आना ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण चित्त के बिखराव पर अंकुश है। यह अपने घर में लौट आना है। यह चैतन्य-बोध है, संसार से पुनर्वापसी है। जीवन में उलझे मकड़ी-जाल से मुक्त होने का आधार है – प्रतिक्रमण। चित्त-वृत्तियों का जहाँ-जहाँ से नाता जुड़ा है, उसे बिसराकर खुद में अँगड़ाई भरना है। पंछी का नीड़ की ओर लौट आना ही तो प्रतिक्रमण की पगडंडी से घर में, चेतना में वापसी है।

स्वयं के जीवन को शांत, सरल, साक्षी चित्त से निहारना ध्यान की

प्रथम और अनिवार्य शर्त है। जो जीवन की बारीकियों से वाकिफ नहीं है, वह सिर्फ ध्यान में ही नहीं, जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं कमा पाता। कृपया, निहारें जीवन के उस मूल स्रोत को, जहाँ से जीवन की धारा बही है।

अपने शैशव की ओर अपनी दृष्टि उठाएँ। हम बच्चे रहे, लेकिन बच्चे से पहले क्या थे ? उससे पहले माँ के गर्भ में थे। जीवन-निर्माण की एक नौमासी यात्रा वहाँ पूरी की है हमने। उस यात्रा की शुरुआत क्या है ? यूँ तो कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता कि सागर सर्वप्रथम सिर्फ एक बूंद रहा। पर सागर बूंद का ही विस्तार है। जब जीवन के नाभि-स्रोत पर ध्यान देंगे, तो हम स्वयं को एक अणु का विस्तार ही पाएँगे। अणु प्रकृति की पहली और सबसे छोटी इकाई है। हमारा शरीर उसी एक अणु का पल्लवन है। आखिर हर बरगद का भविष्य बीज में ही समाहित होता है।

बीज मूल है और बरगद उसका तूल। हम कहते हैं कि अब बात को तूल मत दो, मूल पर लौट आओ। जीवन के बारे में भी यही बात ध्यान देने योग्य है। मूल का पहला अंश अणु है, पर जीवन की संहिता हमें अणु के पार भी झाँकने के लिए प्रेरित करती है। अणु से पहले हम एक अदृश्य आत्मा रहे हैं। अदृश्य आत्मा ने अणु में प्रवेश किया और बीज बरगद बनने के लिए गतिशील हुआ। अणु की विकास-यात्रा उसकी विभु-यात्रा है। विभु यानी विराट। अणु विभु भी है, मूल रूप में अणु भी। इस तरह जीवन के मूल स्रोत दो तत्त्वों से सांयोगिक हैं – एक है आत्मा और दूसरा है अणु। नजर-मुहैया होने वाला जीवन उसी आत्मा और अणु का 'कार्मिक मिलन' है।

आत्मा पुरुष है, अणु प्रकृति। हर मनुष्य अर्द्धनारीश्वर है। उसमें पौरुष भी है, स्त्रैण गुण भी है। 'शंकर' का आधा शरीर शिव बनाम पुरुष का है और शेष पार्वती बनाम स्त्री/प्रकृति का है। शंकर के द्विभागी देह-चित्र इसी अर्थ के प्रतीक हैं।

आत्मा और अणु, पुरुष और प्रकृति – दोनों में फर्क समझ लेना ही भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान दोनों के बीच विभाजक-रेखा खींचना है। प्रकृति के गुणों में सुख की तलाश करना 'मृगतृष्णा' है। 'मृग' तृष्णा का प्रतीक है। किरण के झलके को जलस्रोत मानना, पेड़ की छाँह को तैया मानना, कस्तूरी को दिशा-विदिशाओं में ढूँढ़ना – मृग की तृष्णा के प्रतीक हैं। इसके चलते तो भगवत् पुरुष भी चक्कर खा बैठते हैं और नकली स्वर्ण-मृग के पीछे असली सीता खो बैठते हैं। समझ तब आती है, जब तृष्णा दुलत्ती मारकर सात समुंदर पार पहुँच जाती है।

भेद-विज्ञान तृष्णा और मूर्च्छा का बोध है। आवाज सुनकर या पानी के छींटे खाकर जगना भली बात है, पर वे लोग 'सम्मूर्च्छित' / प्रगाढ़-मूर्च्छित हैं, जो समुंदर में गिरकर या आग के घर में होकर भी यह कहते हैं – थोड़ा और ऊँघ लेने दो भाई !

इतनी भी क्या जल्दी है।

तृष्णा 'तृष्णा-बोध' से ही जर्जर होती है। वैराग्य, प्रकृति की गुणधर्मा तृष्णा से ऊपर उठना है। आत्मा के लिए प्रकृति की हर अभिव्यक्ति 'पर' है और योग-दर्शन प्रकृति के गुणों में तृष्णा के सर्वथा समाप्त हो जाने को 'पर-वैराग्य' कहता है। पर से, अन्य से विरक्त होना ही पर-वैराग्य है। आत्मा के लिए तो घर-परिवार-संसार-पदार्थ तो क्या, शरीर भी पर ही है। इतना ही नहीं, विचार और मन भी पर हैं। चित्त के संस्कार भी पर ही हैं। 'पर-वैराग्य' चैतन्य-क्रांति है। पर-वैराग्य यानी दूसरों से विरक्ति, अनासक्ति।

एक महिला संत हुई हैं – विचक्षणश्री। बड़ी प्यारी साध्वी हुईं। वह शांति, समता और साधुता के अर्थों में सौ टंच खरी उतरतीं। उस साध्वी को कैसर की व्याधि ने आ घेरा। औरों की अपेक्षा उनकी व्याधि कुछ अधिक ही भयंकर थी। मगर उनके चेहरे पर समाधि मुस्कराया करती। डॉक्टर चकित थे, वह देहातीत थीं। सहिष्णु रही हों, ऐसी बात भी नहीं है। व्याधि के असर से बेअसर कर लिया था, वेदना की अनुभूति से ऊपर उठा लिया था विचक्षणश्री ने अपने आपको।

प्रकृति से स्वयं की अलग अस्मिता मानने-जानने वाला न केवल देह से, वरन् मन से भी मुक्त हो जाता है। फूल खिलता है अपनी निजता से। निजत्व के प्रति अभिरुचि ही भेद-विज्ञान की नींव है, पर-वैराग्य की बुनियाद है। पर-वैराग्य हमेशा पुरुष के ज्ञान से, आत्मा के बोध से साकार होता है –

तत्परं पुरुषख्यातेः गुणवैतृष्ण्यम्।

साधक को जब पर-वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है, तब वह अपने स्वभाव-सिद्ध अधिकारों में रमण करता है। वह पदार्थ से ही उपरत हो जाता है। सिर्फ संसार के ही पदार्थ नहीं, वह स्वयं से जुड़े पदार्थों से भी ऊपर उठ जाता है। प्रकृति जो अणु बनकर उसके साथ जुड़ी थी, उसके साथ हमारा लगाव टूट जाता है। दोनों के भेद-विज्ञान की प्रतीति का नाम ही 'विराम-प्रत्यय' है। जड़ और चेतन – दोनों के बीच विराम होने की प्रतीति ही 'विराम-प्रत्यय' है। इस भूमिका में चित्त का संस्कार बिल्कुल सामान्य रहता है, ना के बराबर। जब इस प्रतीति का अभ्यास-क्रम भी बंद हो जाता है, तब चित्त दर्पण-सा साफ-स्वच्छ हो जाता है, तब वृत्तियों का सर्वथा विलोप हो जाता है। यह मुक्त-दशा है। जीवन की निरभ्र आकाश जैसी दशा है।

संभव है, इस दशा में आत्मा शरीर में रहे, पर वह रहना सिर्फ सांयोगिक है।

जीवन में कुछ कर्ज ऐसे होते हैं, जिनका नाता शरीर के साथ होता है। जब कर्ज चुक जाते हैं, तो आत्मा पदार्थ और परमाणु के हर दबाव से मुक्त हो जाती है। यह कैवल्य-दशा है। पतंजलि ने इसे ही निर्बीज-समाधि कहा है। एक जीवन-मुक्ति

है और एक विदेह-मुक्ति। महावीर के अनुसार संबुद्ध पुरुष का कैवल्य-दशा में प्रवास करना 'सयोगी केवली' अवस्था है। आत्म-तत्त्व/पुरुष द्वारा शरीर को भी केंचुली की तरह छोड़ देना उसकी 'अयोगी केवली' अवस्था है। जैन लोग जिसे 'णमो सिद्धाणं' कहते हैं, इसी समय साकार होती है वह वंदनीय सिद्धावस्था।

सिद्धत्व की इस शिखर-यात्रा की तराई भेद-विज्ञान की है। जहाँ आत्मा और पुद्गल का अंतर आत्मसात् होता है, वहीं जीवन में आत्मज्ञान की पहली किरण फूटती है। यही तो वह चरण है, जिसे विशुद्ध सम्यक् दर्शन और सम्यकत्व कहा जाता है। संन्यास की क्रांति इसी बोध-प्रक्रिया से अपना मौलिक संबंध रखती है। जब तक आत्मज्ञान घटित नहीं होता, तब तक किया जाने वाला हर विधि-विधान राख की ढेरी पर किया जाने वाला विलेपन है। आनंदघन अभिव्यक्ति को क्रांतिकारी मोड़ देते हुए कहते हैं - 'आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे'।

और मैं नहीं चाहता कि हम सिर्फ चोगे बदल लें और भीतर से जैसे थे, वैसे ही बने रहें। ठाणों को बदलने से जिंदगी नहीं बदला करती, मगर जहाँ जिंदगी में ही चैतन्य-क्रांति घट जाती है, वहाँ ठाणों का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

भेद-विज्ञान आग है। अगर सचमुच कुछ होना, कुछ कर गुजरना चाहते हैं, तो इस आग को अपनी अंतर्दृष्टि में ग्रहण करें और जला डालें आत्मा और पुद्गल के अद्वैत को, पुरुष और प्रकृति के एकत्व को, जड़ और चेतन के रागात्मक साहचर्य को, रागात्मक अनुबंधों को। तुम सिद्धों जैसे हो, सिद्धों के वंश के हो, स्वयं पर गौरव करो।

हमारी तो सिर्फ आत्मा है, शेष सब पराए हैं। आत्मा का अर्थ ही होता है अपना। आत्मा के अतिरिक्त जितने भी संबंध और संपर्क-सूत्र हैं, हमारे लिए तो वे सब-के-सब विजातीय हैं। विजातियों के साथ रहोगे? जियोगे? विजातियों से विराग ही भला। मेरा तो सिर्फ मैं हूँ, मेरे सिवा मेरा कोई नहीं। आखिर मौत के वक्त कौन किसका होता है। क्या दादा के लिए हो पाए? क्या पड़ोसी के साथ जा पाए? भले ही हम सती होने का दंभ कर लें, पर ऐसा करके भी हम असत् से सत् न हो पाए।

याद रखो, तुम्हारा अपना कोई नहीं है सिवा तुम्हें छोड़कर। जिसे तुम अपना समझते हो, वह तो मात्र एक अमानत है। बेटा बहू की अमानत है। बेटी दामाद की अमानत है। शरीर श्मशान की अमानत है। जिंदगी मृत्यु की अमानत है। जिसकी जो अमानत है, एक दिन वह उसे ले जाएगा। बेटा बहू का हो जाएगा, बेटी को दामाद ले जाएगा, शरीर श्मशान की राख में समा जाएगा। जिंदगी मौत से हार जाएगी। अमानत को अमानत समझिए और मुक्त हो जाइए।

मृत्यु तो कसौटी है इस तथ्य को परखने की कि कौन अपना है, कौन पराया।

सुख को बाँटकर भोगा जाता है, मगर दुःख भोगने के लिए तो मनुष्य अकेला है, निपट अकेला। मौत की डोली अकेले के लिए ही आती है, पर जिसने इस विज्ञान को आत्मसात् कर लिया कि मेरे अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं है, वह अमृत-पुरुष है। उसके लिए मौत अपनी मरजी से नहीं आती। विशुद्ध आत्मज्ञानी को इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त हुआ रहता है। वह तभी मरता है, जब वह मरना चाहता है।

यदि भेद-विज्ञान की ज्योति को अपने मन-मंदिर में जगाना चाहते हो, तो यह स्वीकार करो कि मेरा तो सिर्फ मैं हूँ। मेरे अलावा मेरा और कोई नहीं है, यह शरीर भी नहीं। यह चैतन्य-बोध का आधार-सूत्र है। मेरा केवल मैं हूँ – यह भाव न राग है, न ममत्व। यह 'मैं' का परम सौभाग्य है। यह तो चैतन्य-दशा में प्रवेश है। मैं मेरे अलावा किसी को भी मेरा मानूँगा, तो यह मेरा संसार का भाव-सफर होगा। बस, चैतन्य ही मैं हूँ, यह बोध ही तो जीवन में संन्यास का घटित होना है।

संन्यास जीवन की एक दिव्य घटना है। जीवन में संन्यास सही रूप में तो तभी घटित होता है, जब संसार पूरी तरह असार लगता है। यदि कोई अपनी पत्नी को छोड़कर मुनित्व भी अंगीकार कर ले और उसे पत्नी की, पूर्व भोगों की याद आए, तो संसार उसके संन्यास की परछाई बनकर उसके साथ आया कहलाएगा।

संन्यास देने या दिलाने की प्रथा इतनी आम हो गई है कि आत्मज्ञान का तो कहीं कोई पता ही नहीं है और साधु-संन्यासियों के टोले दर-दर दिखाई देते हैं। जिस दुकान पर एक भिखारी भीख माँग रहा है, वहीं तुम साधु-संन्यासियों को हाथ फैलाते देखोगे। बुद्ध ने जिस अर्थ में 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग किया, लोगों ने उसका हुलिया ही बदल डाला।

दो दिन पूर्व स्वीट्जरलैंड से आए एक जोड़े ने मुझे भारत-यात्रा का अनुभव बताया। उन्होंने कहा कि हम सद्गुरु की तलाश में भारत आए। अध्यात्म के प्रति प्यास जगी। हम सबसे पहले वाराणसी पहुँचे। जिस होटल में हम ठहरे, वहाँ हमने साधु को जिस ढंग से माँगते पाया, हम तुलना न कर पाए साधु और भिखारी के बीच। तब हमने जाना कि भारत में गुरु की तलाश करना कितना कठिन है। जो सही अर्थों में सद्गुरु हो, जीवन को अध्यात्म से प्रत्यक्ष जोड़ सके, ऐसे सद्गुरु परम दुर्लभ हैं।

साधुता जीवन की महान् संपदा है। उसे रोटी के दो टुकड़ों के लिए कलंकित न किया जाना चाहिए। पेट के लिए साधु मत बनो। पेट के लिए श्रम किया जाना चाहिए। माँगने से लजाना भला।

जब साँसारिकता के भौरे की कोई भी भिनभिनाहट कानों को सुनाई न दे, तब ही संन्यास के द्वार पर कदम रखना बेहतर है। मैं नहीं चाहता कि हम न घर के रहें, न

घाट के। संसार में रहकर हम संसारी कहलाएँगे, लेकिन संन्यास में यदि संसार की पदचाप सुनने में रस लेंगे और उसके बाद भी संन्यासी बने रहेंगे, तो न तो हम पूरी तरह संसारी हो पाए और न ही संन्यासी।

संन्यास तो चैतन्य-क्रांति है। यह आत्म-रूपांतरण का द्योतक है। यह कोई ऐसी चीज नहीं है कि किसी के उपदेश से मरघटी वैराग्य जग गया और हम झोली-डंडा लेकर निकल पड़े। न रोटी के लोभ से लिया गया संन्यास 'संन्यास' है और न ही किसी की आँखों की शर्म से। संन्यास तो बोध का परिणाम है, आध्यात्मिक होने का आत्मविश्वास है, यह तो चैतन्य-जगत् का आह्वान है, अपने-आप में होना है और अपने अतिरिक्त जो भी है, जितने भी हैं, उन्हें खोना है।

संन्यास के द्वार पर कदम रखने से पहले इतना बोध हो ही जाना चाहिए, जिससे व्यक्ति अपनी तृष्णा को समझ सके, मूर्च्छा से आँखें खोल सके। ठीक है, संन्यास 'चरैवेति-चरैवेति' का आचरण है, पर चलेगा वही जो सोने से धाप गया, जगकर उठ बैठा है। संन्यास देने के बाद किसी की मूर्च्छा तुड़वाने का प्रयास बड़ा खतरनाक है।

भगवान बुद्ध के छोटे भाई का नाम था नंद। विवाह दोनों ने किया। नंद का मन तो सौंदर्य-प्रेमी था, किंतु सिद्धार्थ ने मोक्ष-मार्ग में अपना मन लगाया। एक दिन, रात के समय अपनी पत्नी को सोए हुए छोड़कर सिद्धार्थ वन में चला गया। सिद्धार्थ की यह चूक भी रही, करुणा भी। सिद्धार्थ ने तपस्या की और बोधि-लाभ प्राप्त किया।

सिद्धार्थ धर्म का उपदेश देने के लिए गए, किंतु उनका उपदेश सुनने के लिए नंद न आया। वह महल में अपनी पत्नी के साथ विहार कर रहा था। एक बार नंद प्रेमवश पत्नी का शृंगार करने लगा। उसी समय सिद्धार्थ भिक्षा के लिए उसके घर आए। नंद का ध्यान उस ओर न गया और सिद्धार्थ भिक्षा पाए बिना ही लौट गए। एक परिचारिका ने सिद्धार्थ के वापस लौटने की सूचना नंद को दी। नंद ने अपनी पत्नी से कहा कि मैं गुरु को प्रणाम करने के लिए जा रहा हूँ। पत्नी के शरीर पर आलेपन किया हुआ था। उसने कहा कि आप जाएँ, मगर मेरा यह गीला आलेपन सूखे, उससे पहले ही लौट आएँ।

प्रणाम करते वक्त सिद्धार्थ ने नंद को अपना भिक्षा-पात्र थमा दिया। नंद ने भिक्षा-पात्र पकड़ तो लिया, वह शर्म के मारे उनके साथ भी चल पड़ा, लेकिन रह-रहकर अपनी पत्नी और उसके निवेदन की याद आने लगी। सिद्धार्थ ने उसे उपदेश दिया और भिक्षु बना डाला। नंद संकोचवश मना न कर सका। नंद का मन भीतर से रो रहा था। आखिर उसने साहस करके ऐसा करने से मना कर दिया, पर सिद्धार्थ ने

आँखें दिखाते हुए कुछ कठोर भाषा में कहा, “मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। मैंने प्रव्रज्या ले ली और तुम अभी भी संसार में हो।’ नंद घबराया। वह कुछ न बोल पाया। वह छटपटा रहा था, किंतु उसका मुंडन कर दिया गया, भिक्षु के काषाय-वस्त्र पहना दिए गए।

नंद बुद्ध के विहार-क्षेत्र में रहा, उनके साथ रहा, पर उसे शांति न मिली। वह विलाप करने लगा – जो अपनी रोती हुई पत्नी को छोड़कर भी तप कर सकता है, वह कठोर है। मैं तो एक ओर पत्नी का राग और दूसरी ओर बुद्ध की लज्जा – दो पाटों के बीच में पिसा जा रहा हूँ। चलते समय मेरी पत्नी ने आँखों में आँसू भरकर कहा था – आलेपन सूखने से पहले वापस चले आना। मैं पत्नी के उन भाव-विह्वल वचनों को आज भी नहीं भूल पाया।

नंद ने भिक्षुओं को देखकर कहा – ये जो चट्टान पर आसन जमाए हुए भिक्षु ध्यान में बैठे हैं, क्या इनके मन में काम नहीं है? काम तो नैसर्गिक है। जब देवता और ऋषि-मुनि भी काम के बाण से घायल हुए हैं, फिर मैं तो सामान्य इनसान हूँ। मैं घर लौट जाऊँगा। जिसका मन चंचल है, वह सिद्ध कैसे बन सकता है? उसमें ज्योति कहाँ!

यद्यपि नंद ने आखिर भेद-विज्ञान आत्मसात् कर लिया था, सिद्धार्थ की भी इसमें भूमिका रही होगी, किंतु जीवन का मध्याह्नवह जिस ढंग से घुट-घुटकर जिया, उसे न तो प्रव्रज्या कहा जा सकता है और न संन्यास। संन्यास के बाद बोध-रूपान्तरण का क्रम नहीं है, वरन् संन्यास हो बोध-पूर्वक। आँखों की शर्म से किसी को संन्यासी बने रहने के लिए मजबूर रखना बोधपूर्वक पहल नहीं कही जा सकती।

लोग तो जाके समुंदर को जला आए हैं।

मैं जिसे फूंककर आया, वो मेरा घर निकला!!

कोई कुछ भी करे, पर तुम अपने कदम तभी बढ़ाना जब संन्यास हृदय की धड़कन बन जाए, जीना भी संन्यास बन जाए। संन्यास कोई स्वयं को कष्ट देना नहीं है। संन्यास तो स्वयं का बोध पाना है। आत्म-बोध से बढ़कर कोई तप नहीं है। आत्म-बोध से बढ़कर कोई त्याग नहीं है। आत्म-बोध से बढ़कर कोई धर्म और दर्शन नहीं है। आत्म-बोध ही धुरी है अध्यात्म की। बोध ही काफी है भेद-विज्ञान का। जड़ तो जड़ बना रहेगा, चेतन चेतन में समा गया – यही उसकी पुनर्वापसी है और यही उसका प्रतिक्रमण।

सरल शब्दों में कहूँ तो भेद-विज्ञान ही वैराग्य की आत्मा है। वीतरागता के फूल इसी से खिलते हैं। अध्यात्म का अमृत इसी से आत्मसात् होता है। कोई अगर मुझसे पूछे कि मोक्ष और निर्वाण का एकमात्र मूल मार्ग क्या है, तो मेरा जवाब होगा

— भेद-विज्ञान। यह हंस-दृष्टि है साधक की। देह अलग, चेतन अलग। देह जड़, चेतन आत्मा। जड़ तीन काल में भी जड़ ही रहता है। चेतन, तीन काल में भी चेतन ही रहता है। संयोग-संबंध के चलते जड़-चेतन एक से लगते हैं, पर तीन काल में भी दोनों एकरूप नहीं हो सकते। दोनों का तादात्म्य है, इसलिए तो देह-पोषण और भव-चक्र का प्रवर्तन जारी है। जिस दिन देह, मात्र देह रूप लगेगी, उसी दिन जीवन में चेतना की पहली किरण फूट जाएगी। जीवन में आत्मबोध का सूर्योदय होना शुरू हो जाएगा।

मैंने जिस साध्वी का जिक्र किया, उन्हें भेद-विज्ञान आत्मसात् हुआ। उसी के चलते उस दिव्य साध्वी ने देह-धर्मों पर विजय प्राप्त की और व्याधि में भी समाधि का फूल खिला लिया। कैसर तो उनकी कसौटी बन गया। कैसर उनके लिए सहायक बन गया। कैसर न होता, तो शायद यह बात नहीं बन पाती। कैसर ने तो साधना के, भेद-विज्ञान के बीज को अंकुरित करने में, फूल खिलाने में मदद की। मैं उस साध्वी के करीब रहा हूँ। मेरे जीवन में भेद-विज्ञान की जो थोड़ी-बहुत आत्मदृष्टि उद्घाटित हुई, उसमें सबसे पहले उसी साध्वी का प्रभाव रहा। इसीलिए वह साध्वी मेरे लिए सदा आदरणीय रही है, उतनी ही जितना किसी के लिए गुरु-तत्त्व होता है।

मैं इस संदर्भ में गुजरात के ही एक और आत्मज्ञानी संत श्रीमद् राजचन्द्र की भी अनुमोदना करूँगा, जिन्होंने भेद-विज्ञान को बखूबी जिया। मैं उस प्रकाश-पुरुष को प्रणाम समर्पित करता हूँ, जिसने देहातीत अवस्थाओं का आनंद लिया। महर्षि रमण, श्री अरविंद जैसे लोग ही आत्मज्ञानी संत हुए। ऐसे लोगों के लिए देह मात्र उतना ही अर्थ रखती है, जितना किसी सर्प के लिए उसकी केंचुली।

हम जीवन को ध्यान से देखें, जीवन पर मनन करें। जीवन के अतीत को देखें, उसकी प्रेक्षा और अनुपश्यना करें। वर्तमान पर जागें। स्वरूप को देखें। आप पाएँगे कि धीरे-धीरे अद्वैत बिखर रहा है। तादात्म्य, पुद्गल-भाव का घनत्व शिथिल हो रहा है। जहाँ आसक्ति, तादात्म्य, मूर्च्छा गिरी, वहीं अध्यात्म की रोशनी उजागर हुई। हम वैसे ही ऊपर की ओर उठे, जैसे जमीन पर पड़ा दीया प्रज्वलित होने पर ऊर्ध्वमुखी बनता है। फिर बाती चाहे हम कितनी भी नीची या उलटी करके जलाएँ, बाती से उठने वाली लौ तो सदा ऊर्ध्वमुखी ही होगी। उसकी आभा तो विस्तृत, विस्तृत और विस्तृत ही होगी।

ये बातें केवल सुनने जैसी नहीं हैं। ये जीने की बातें हैं। ज्ञान उसी का है, जो उसे जिए। सत्य उसी का है, जो उसे आत्मसात् करे।



साधना के सोपान

श्रद्धा एक अकेला ऐसा मार्ग है,
जो हमें मंजिल तक पहुँचा सकता है।



मनुष्य जीवन का फूल कुदरत की किसी महत् अनुकंपा से खिलता है। बड़े श्रम और बड़े सौभाग्य से इस फूल की पँखुरियाँ खिला करती हैं। जरा देखो उस फूल को। रोम-रोम मुस्कुरा रहा है उसका चेहरा। थोड़ा अपने चेहरे को देखकर यह पता लगा लो कि कहीं हमारा मुँह तो लटका हुआ नहीं है या किसी गुलाब के फूल की तरह खिला हुआ है। चेहरे की बनावटी हँसी पर विश्वास मत करना। यह मुस्कुराहट तो उधार है। दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होने की चिकनी-चुपड़ी सांत्वना है। बात तो हृदय की मुस्कुराहट की है। बाहर से खुश दिखाई देने वाला आदमी भीतर से आँसुओं की तलैया से भरा हो सकता है। बाहर से तो किसी के लिए शोक व्यक्त कर रहे हो और भीतर से बड़े प्रसन्न हो रहे हो कि 'चलो, एक तो बला टली।' कई बार भीतर दुःख-दर्द का लावा उबलता रहता है और चेहरे पर तुम्हें वह भाव-भंगिमा दर्शानी पड़ती है, मानो तुम-सा कोई और प्रसन्न - बदन नहीं है। यदि ऐसा है, तो यह जीवन का प्रपंच है। जब शोक हो, तो विशुद्ध रूप से शोक ही हो और जब प्रसन्नता हो, तो बाहर-भीतर एकरूपता हो।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि जीवन के साथ भी हम सरकारी या व्यवसायी बुद्धि लगा रहे हों? जीवन कोई रिश्त नहीं है और न ही कोई जायदाद की बढ़ोतरी। जीवन तो बस जीवन है।

मनुष्य अपने पूरे जीवन में स्वयं का संरक्षण नहीं करता, बल्कि स्वयं को बेचता है। आखिर स्वयं को बेचकर क्या पा रहे हो? वह सब-कुछ जो जीवन और मृत्यु की कसौटी में निर्मूल्य है। यदि खुद को बेच-बेचकर खुद को भी भर लेते, तो

बात का बतंगड़ न होता। पर वह अपने को कहाँ भर रहा है! वह तो तिजोरी को भरता है। अपने चारों ओर माल-सामान का ढेर लगा रहे हो और स्वयं बिल्कुल खाली पड़े हो। अंततः नतीजा यह होगा कि माल यहीं पड़ा रह जाएगा और मालिक लुट जाएगा। उस पिंजरे का क्या मोल जिसका पंछी उड़ जाए!

कहते हैं : किसी समय एक आदमी के पास कई तरह के पशु-पक्षी थे। जब उसने सुना कि हजरत मूसा पशु-पक्षियों की भाषा समझते हैं तो वह मूसा के पास गया। उसने मूसा से पशु-पक्षियों की भाषा सीखनी चाही, पर मूसा ने मना कर दिया। आदमी अपनी जिद पर अड़ा रहा और हठ करके उसने मूसा से भाषा सीख ली। तब से वह आदमी अपने पशु-पक्षियों की बातचीत जब-तब सुना करता।

एक दिन मुर्गे ने कुत्ते से कहा कि मालिक का घोड़ा बहुत जल्दी ही मरने वाला है। आदमी ने जब यह सुना तो बड़ा खुश हुआ। उसने अपना घोड़ा बेच दिया और होने वाली हानि से बच गया। थोड़े दिन बाद उसने मुर्गे को कुत्ते से यह कहते सुना कि मालिक का खच्चर शीघ्र ही मर जाएगा। मालिक ने खच्चर को भी बेच दिया। एक दिन मुर्गे ने गुलाम के मरने की बात कुत्ते को कही, तो मालिक ने उसे भी बेच दिया। वह प्रसन्न था कि उसने पशु-पक्षियों की भाषा सीखकर कितना लाभ प्राप्त किया। अंत में एक दिन मुर्गे ने कुत्ते से कहा कि दो दिन बाद अपने मालिक की मृत्यु होने वाली है। यह सुनकर वह घबराया और भय के मारे काँपने लगा। वह दौड़ा-दौड़ा गया मूसा के पास, पूछा कि अब मैं क्या करूँ ?

मूसा ने कहा – करना क्या है ? जाओ और अपने को बेच डालो।

‘क्या ?’

‘हाँ, ठीक वैसे ही जैसे तुमने घोड़े, खच्चर और गुलाम को बेचा’।

क्या बेचोगे स्वयं को ? कितने में बेचोगे ? किसके लिए बेचोगे ? तुम्हें तो आग लगी जा रही है। जिंदगी न तो बेचने के लिए है और न बदले में कुछ पाने के लिए है। मेहरबानी कर अपने लिए जरा सोचो कि जीवन क्या है और जीने के उद्देश्य क्या हैं ? जीवन के मूल्य क्या हैं ? किसमें जीवन की सार्थकता है और किसमें निरर्थकता ?

अपने इर्द-गिर्द देखता हूँ कि हर कोई जन्म लेता है, पलता है, बढ़ता है, संघर्ष करता है, ऐश-आराम, मौज-मस्ती करता है और फिर अपने बनाए-बसाए संसार को छोड़कर एक दिन चला जाता है। यह एक बँधी-बँधाई लीक दिखाई देती है। लोग इसी लीक पर चलते हैं। कोई आराम से गुजर रहा है तो कोई कठिनाई से। यह एक ऐसी यात्रा हुई जिसे मैं दगैर गंतव्य की यात्रा कहूँगा। अब सवाल यह है कि क्या यही जीवन है ? यदि हाँ, तो जानवर और इन्सान में कोई बिचौलिया फर्क नहीं है।

और यदि नहीं, तो फिर वास्तव में जीवन क्या है ? जीने के उद्देश्य क्या होते हैं ? मैं इस प्रश्न को मात्र प्रश्न न कहूँगा। मैं इसे जीवन के प्रति एक सघन जिज्ञासा कहूँगा। मन में ऐसे प्रश्न उभरना भी कोई सामान्य बात नहीं है। यह पहेली नहीं, जीवन के प्रति जागरूकता की पहल है। जब तक यह हकीकत में न होगी, तब तक जीवन में किसी भी प्रकार का रूपांतरण घटित ही न हो पाएगा।

जीवन में क्रांति उपदेशों से नहीं, जिज्ञासा और अभीप्सा से घटित होती है। जीवन में लगने वाली चोटों और ठोकड़ों से भी अगर इंसान कुछ न सीख सके, न जग सके, तो वह जीवन के प्रति लापरवाह कहलाएगा। क्या उसे तुम जिंदा कहोगे ? वह तो चलता-फिरता शव है। **बोध के अभाव में मनुष्य अंधा और मुर्दा ही होता है।**

जहाँ जीवन के परिसर में चोट लगती है, वहाँ आदमी उसका हर हाल में समाधान पाना चाहता है। वह प्रश्न उसे बेचैन कर देता है। दुनिया में आत्मदाह और आत्मघात की घटनाएँ ऐसे मानसिक प्रश्नों के कारण ही होती हैं।

जिंदगी सभी जी रहे हैं। कोई नदी के किनारे बैठा पानी का कलकल निनाद सुन रहा है। कोई बाँसुरी के सुरों में खोया है। कोई चरवाहा बना पहाड़ों में भेड़-बकरियों को हाँक रहा है। कोई भीड़ से बचकर निकलना चाहता है। कहीं लोग दिन-भर मेहनत करते हैं और रात को शराब की मदहोशी में पड़े रहते हैं। कोई रात को जुआ-घर में दिखाई देता है, तो कहीं लोग फुटपाथ पर पड़े मिलते हैं। उनके अगल-बगल शहर की गंदगी पड़ी है, मच्छर भिनभिना रहे हैं, पर वे इन सबसे बेखबर होकर जी रहे हैं। क्या यही जिंदगी है ?

हर मनुष्य जन्म के साथ एक घरे में जीता है। उसे बना-बनाया घेरा मिलता है, चोर है, तो चोरी का और व्यवसायी है, तो व्यवसाय का। हर व्यक्ति का घेरा बँधी-बँधाई लीक की तरह है। लीक तोड़ो और नए नीड़ का निर्माण करो। **तुम ऐसी लकीर का निर्माण करो कि और लोग उसका अनुसरण कर सकें।** तुम लीक के अनुसार नहीं, निजत्व के अनुसार चलो। अगर घरे में ही जिओगे, तो तुम्हें अपनी जिंदगी में वही विरासत में मिलेगा, जिसमें तुम बड़े हुए हो। विरासत तो पराश्रय है। जो हो रहा है, बपौती के कारण हो रहा है। हमारी मौलिक क्षमता और संभावना तो राख की ढेरी के नीचे दबी पड़ी है। हम अपना एक नया रूप ले सकते हैं। एक नई परंपरा बना सकते हैं। हम अपनी क्षमताओं का गला न घोटें। क्षमताएँ जीवंत हैं और उनकी जीवंतता का जीने में भरपूर उपयोग करें। आखिर चक्रव्यूह को तो भेदना ही होगा। संघर्ष करना है, मौत से घबराना नहीं है। अभिमन्यु की मृत्यु को हम मृत्यु नहीं कह सकते। वह तो दुनिया के लिए साहस और स्वतंत्रता का पैगाम है। कुछ नया

होने के लिए कुछ पुराने को छोड़ना ही होगा। जरूरत है सिर्फ साहस की, हिम्मत की। सारा चमत्कार हिम्मत का ही है।

जो घेरा हमें बना-बनाया मिला है विरासत के रूप में, उससे चिपके रहना तो अध्यात्म की भाषा में राग है, संकुचितता है। केवल राग के लिफाफों को चिपकाने का काम ही करोगे या उन्हें खोलोगे भी? खुद के द्वारा जैसा भी होगा, जो भी होगा वह हमें और आगे बढ़ने के लिए प्रेरित ही करेगा। आखिर अपने बनाए पद-चिह्नों को देखने का मजा ही कुछ और होता है। यह मजा आनंद है। यह आनंद सिर्फ उसी व्यक्ति से जुड़ सकता है, जो आत्म-केंद्रित हो गया है।

आत्म-केंद्रीकरण का नाम ही जीवन में निजत्व और बुद्धत्व का उदय है और उसका विकेंद्रीकरण ही संसार के घेरे का निर्माण। निजत्व का बोध जीवन की महान् उपलब्धि है, जीवन की गहन से गहन और ऊँची संभावनाओं को जन्म देने का आधार है। आत्म-केंद्रीकरण स्वार्थ नहीं, वरन् सच्चे अर्थों में साधा गया परमार्थ है।

आत्मज्ञान या आत्म-बोध सिर्फ सच्चाई के आलोक का दर्शन ही नहीं कराता, वरन् स्वयं व्यक्ति को रोशन और ज्योतिर्मय कर देता है। यह व्यक्ति की अर्हत अवस्था है। यह परा पहुँच है। यहाँ तक पहुँचने के लिए दो तरह के व्यक्ति होते हैं। एक तो वे, जिनमें जन्मजात यह प्रतिभा होती है। दूसरे वे होते हैं जिन्हें यह प्रतिभा आत्मसात् करनी होती है। जो जन्मजात प्रतिभा संपन्न होते हैं, वे वास्तव में पूर्व जन्म के संस्कारों का परिणाम हैं। हरिभद्र ने उसे कुल-योगी कहा है और पतंजलि ने 'भवप्रत्यय - भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृतिलयानाम्'।

'भव-प्रत्यय' वे लोग हैं, जो पूर्व जन्म में विदेह-अवस्था तक पहुँच चुके थे, किंतु कैवल्य-प्राप्ति से पहले ही चल बसे। हालांकि पुरानी धर्म-किताबों में तो ऐसे लोगों के लिए 'योग-भ्रष्ट' कहा गया है, पर मैं इस गलती को न दोहराऊँगा। व्यक्ति योग-भ्रष्ट तो तब होता है, जब वह योग के मार्ग से स्खलित हो जाता है, फिसल जाता है, जैसे मेनका से विश्वामित्र। मृत्यु होने से योगी योग-भ्रष्ट नहीं होता। मृत्यु तो जीवन का सिर्फ पड़ाव है। एक शरीर छूटा, तो दूसरे से यात्रा चालू हो गई। एक चप्पल घिस गई तो दूसरी पहन ली। इससे योग के सातत्य में पड़ाव के सिवाय और कोई बुनियादी असर नहीं पड़ता। शंकराचार्य की तो युवावस्था में ही देह-विलय हो गई थी। उन्होंने जो पाया और जो उच्चार, वह वास्तव में उनके पूर्व जन्म के योग-प्रवाह के सातत्य का प्रतिफल था। नचिकेता यमराज के पास जाकर भी वापस लौट आया। यह एक छोटे बच्चे का 'भव-प्रत्यय' है। महावीर के शिष्य 'अतिमुक्त' ने मात्र दस वर्ष की उम्र में अमृत-पद प्राप्त कर लिया था। प्रतिभा का संस्कार-सातत्य कब अपना अमृत-पुष्प खिला लेता है, इसका कोई मीटर/मापक-यंत्र नहीं है।

जिनके जीवन में पूर्व जन्म के प्रवाह के सातत्य के कारण कुछ होता है, उनकी

बात अलग है। उनका दीया तो तैयार है, बस ज्योति की याद आनी चाहिए। आम आदमी को तो ज्योति की खोज करनी होती है, चिंगारी को ढूँढ़ना होता है, समर्पित होकर, संकल्प पूर्वक, एक स्मृतिलय होकर, अँतर्लीन होकर। साधकों का योग श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक सिद्ध होता है और वह भी क्रमशः – ‘श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकम् इतरेषाम्’।

साधना के ये चरण बहुत सारे लगते हैं, पर ये वास्तव में एक ही हैं या एक जैसे हैं। शब्दों का थोड़ा-बहुत फर्क है। शाब्दिक अर्थों में भी कुछ भेद हो सकता है, पर समाधि का मार्ग स्वयं समाधि ही है, इसके लिए हमें श्रम कुछ नहीं करना है। आवश्यकता है मात्र ध्यान की। ध्यान में सब कुछ आ जाते हैं, श्रद्धा भी, स्मृति भी, संकल्प भी, प्रज्ञा भी। अलग-अलग शब्द तो इसलिए परोसे गए हैं, ताकि बारीकी को अलग-अलग ढंगों से देख सकें, जान सकें। मूलतः तो ध्यान की ही जरूरत है, मन को केंद्रित करने की जरूरत है। जहाँ मन रसलीन होगा, वहाँ वह टिकेगा भी, उसमें श्रद्धा भी होगी, उसके लिए वीर्य/पुरुषार्थ भी होगा, उसकी स्मृति/याद भी आएगी। उसमें समाधिस्थ/निमग्न भी रहोगे। बुद्धि से उसका रिश्ता भी होगा। सिद्धत्व तो सबका संगम है, किंतु सबका लक्ष्य और आधार तो एक ही है। अमृत सबसे जुड़ा हुआ है और अमृत सबका आधार है।

श्रद्धा का संबंध हृदय से है। वीर्य अर्थात् सामर्थ्य का संबंध शरीर से है। स्मृति का संबंध मन से है और समाधि-प्रज्ञा का मास्तिष्क से, निर्मल बुद्धि से। गीता के श्लोक भी इस तथ्य की पुष्टि करेंगे। आगम और पिटक भी यही कहेंगे। मजहबों और शास्त्रों की अनेकता को देखकर मार्ग को अनेक मत मान लेना। जीवन का द्वार तो वही है और सब ले जाना भी उसी द्वार पर चाहते हैं। शब्दों और अभिव्यक्तियों का भेद कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। मूल्य तो जीवन का है, जीवन में श्रद्धा-सामर्थ्य और स्मृति की खिलावट का है। जीवन में परम चैतन्य को आत्मसात् करने का है।

श्रद्धा का अर्थ है समर्पण। श्रद्धा एकमात्र मार्ग है। सारे मार्गों की शुरुआत इसी एक मार्ग से होती है। श्रद्धा एक अकेला ऐसा मार्ग है, जो मंजिल तक पहुँचा देता है। धर्म के मूल में बिना श्रद्धा के व्यक्ति काली बिंदियों से शून्य आँखों की तरह है।

कहते हैं : किसी चित्रकार ने एक सुंदर-सा चित्र बनाया और इस आशा के साथ कि इस चित्र में कोई कमी नहीं निकाल सकता, वह माइकल एंजिलो के समक्ष प्रस्तुत हुआ। एंजिलो ने चित्र देखा और तारीफ की, पर उस चित्र में कमी क्या है, यह वह चित्रकार न जान सका। वह कमी दूर की एंजिलो ने। उसने अपनी तूलिका उठाई और आँखों में दो काली बिंदियाँ लगा दीं। चित्र अब सचमुच मुखर हो चुका था, जीवंत और अद्भुत।

एक छोटी-सी नजर आने वाली बिंदी कितना मूल्य रखती है। श्रद्धा जीवन की आँखों में रहने वाली बिंदी की तरह है। यह बिंदी ही आँख की आत्मा है। इसी से प्रकाश है, इसी से सारे दृश्य जगत् की संभावना जुड़ी है। मैं इसे श्रद्धा की बिंदी कहूँगा। जहाँ श्रद्धा बलवान है, वहाँ यदि गुरु कमजोर भी निकल जाए, तो हृदय की श्रद्धा स्वतः व्यक्ति को पार लगा देती है।

मैं श्रद्धा का पुजारी हूँ। पर श्रद्धा का कभी दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। जो गुरु किसी की श्रद्धा का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए करना शुरू कर देता है, वह आत्म-पतन का ही सूत्रधार होता है, मुक्ति का नहीं।

कोई भी साध्य श्रद्धा से ही सधता है। ईश्वर का निवास किसी आसमान में नहीं, वरन् वहाँ है, जहाँ जिस हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा और समर्पण है। श्रद्धा वह नौका है, जो हृदय के सागर में चलती है। समर्पण हो – न सिर्फ साध्य के प्रति, वरन् साधन के प्रति भी। श्रद्धा ही तो शिष्यत्व की पहचान है। शिष्य अगर सही है, श्रद्धा अगर पूर्ण है, तो सद्गुरु चाहे उससे सैकड़ों कोस दूर भी क्यों न हो, उसे आना ही पड़ेगा। श्रद्धा सिद्धांतों का ढिंढोरा पीटना नहीं है। इससे तो श्रद्धा को उलटा खेद होता है। श्रद्धा तो भीतर की तरंग है, जीवन का आभामंडल है। श्रद्धा केवल शिष्य को ही तरंगित नहीं करेगी, वरन् जो भी उसके संपर्क में आएगा, वह भी श्रद्धा के प्रकाश से भरेगा।

श्रद्धा सुषुप्ति है। नींद आते ही आदमी दुनिया से बेखबर हो जाता है। उसे चित्र की तो चिंता रहती ही नहीं है, शत्रु की भी वह चिंता नहीं करता। नींद बड़ी मीठी होती है। श्रद्धा नींद है। नींद से बेहतर मिठास और कहाँ, जिसमें आदमी सुख-दुःख, भूख-प्यास, अमीरी-गरीबी, सब भूल जाता है, सारे भेदभाव भूल जाता है। श्रद्धा नींद की तरह मीठी है। जिसके प्रति श्रद्धा हो गई, उसके लिए तो उससे बढ़कर और कोई तीर्थ नहीं है।

श्रद्धा प्रेम है, पर प्रेम होते हुए भी प्रेम से बढ़कर है। प्रेम तो पति-पत्नी के बीच भी होता है। प्रेम शारीरिक भी हो सकता। श्रद्धा विशुद्ध प्रेम है। प्रेम की सबसे उज्वल-निर्मल दशा का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा का शरीर से कोई संबंध नहीं होता। श्रद्धा हृदय की अभिव्यक्ति है, हृदय की प्यास है। हृदय का समर्पण है। हृदय का फूल है। श्रद्धापूरित हृदय से निकलने वाले आँसू कोरा पानी नहीं है, वह हृदय की अंजुरी है।

बात इंदौर की है। ढलती दोपहर का समय, करीब चार बजे होंगे। शाम के छह बजे इंदौर से प्रस्थान करने वाले थे। सुबह एक अजीब आत्मीय साधिका मीराजी ने अपने घर चलने के लिए मुझसे आग्रह किया। मैं व्यस्तता के बावजूद उनकी बात

को टाल न सका।

दोपहर में साढ़े तीन-चार बजे जब उनके घर जाने को तैयार हुए, पाया कि जमीन काफी तप रही है। मैं जैसे ही चार कदम चला कि वीजे ने आकर इस गर्म सड़क पर जाने से मना किया। मुझे कहना पड़ा, जबान दी हुई है, जाना होगा। उसने मुझसे पादरक्षक पहन लेने का आग्रह किया। मैं पादरक्षक पहनना नहीं चाहता था। मैं बिना पादरक्षक पहने ही निकल पड़ा। कुछ आगे बढ़ा, पर न जाने क्यों मुझे पीछे मुड़कर देखना पड़ा। मैं चौंका, क्योंकि वीजे पादरक्षक को हाथ में लिए झुकी कमर खड़ी है। मुझे रुकना पड़ा। मैंने पाया कि उसकी आँखों से आँसू झर रहे हैं। मुझे लौटना पड़ा। पादरक्षक स्वीकार करने पड़े। यह उस पवित्र आत्मा की श्रद्धा थी, सेवा थी, भावना थी। मुझे लगा, ये वैसे ही आँसू थे, जैसे द्रौपदी ने अपने दुपट्टे का एक टुकड़ा फाड़कर कृष्ण की अँगुली पर बाँधा हो। मैं उनके प्रति आदर और आत्मीयता से भर उठा।

मेरे लिए श्रद्धा एक बहुत बड़ा मार्ग है। श्रद्धा से ज्यादा अभिनंदनीय तत्त्व और कोई नहीं है। श्रद्धा साधना की आदि है, मध्य है और यही अंतिम भी।

श्रद्धा और समर्पण की सबसे ज्यादा मात्रा स्त्रियों में होती है। स्त्रियाँ ध्यान और भक्ति के मार्ग पर जल्दी गति कर सकती हैं। पुरुष की यात्रा बुद्धि से होती है, पर स्त्रियों की श्रद्धा से। एक वैज्ञानिक है, दूसरा हार्दिक है। धर्म विज्ञान का नहीं, हृदय का मार्ग है। धर्म हृदय का प्रवाह है और श्रद्धा इसका मूल स्रोत है।

जरा अपना मन टटोलो – अभी श्रद्धा कहाँ है? अभी तो पूँजी के प्रति है, पद के प्रति है, प्रतिष्ठा के प्रति है। जिस पूँजी के पिछलग्गू बने हो, वह तो जीवन-यापन के लिए है। पूँजी साधन है, साध्य नहीं। यह बोध रहे, तो पूँजी बाधक नहीं है। पूँजी साध्य बनने पर ही बाधक है। वह व्यक्ति जड़बुद्धि है, जो जीवन को पूँजी के लिए खर्च कर रहा है। मनुष्य पैसे-पूँजी से इतना चिपका है कि –

एक संभ्रांत व्यक्ति के द्वार पर किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। उसने अपना चश्मा ठीक तरीके से लगाते हुए पूछा, कौन है? आगंतुक ने कहा, तेरी मौत। व्यक्ति चौंका। उसने कहा, तब कोई हर्जा नहीं है। मैंने सोचा, कहीं इनकमटैक्स वाले तो नहीं आ गए। तुम आ गए, चलेगा; वे नहीं आने चाहिएँ।

तुम दमड़ी के इतने गुलाम हो गए हो कि मृत्यु स्वीकार्य है, पर धन का नुकसान नहीं। अभी तुम्हारी श्रद्धा जीवन के प्रति नहीं, पूँजी के प्रति है। तुम्हें चिंता आयकर वालों की है, मृत्यु की नहीं। असली पूँजी तो जीवन है, परमात्मा है। उसे बचाएँ। उसके संरक्षण की सोचें। वह कहीं हाथ से न छिटक जाए। जीवन है, तो सबका मूल्य है। जीवन चला गया, तो सारे मूल्य निर्मूल्य हैं। हम चाहे जिसे मूल्य दें,

पर ध्यान रखें जीवन का मूल्य सर्वोपरि है।

पूँजी के अलावा लोग मूर्च्छित हैं पद के प्रति। पद सफेद झूठ है। सारे पद कुर्सियों के हैं। कुर्सी बड़ी लग गई, तुम बड़े लग गए। एक बात ध्यान रखिए कि इससे मात्र कुर्सी बड़ी हुई है, व्यक्ति बड़ा न हुआ। धन से प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, खुशामद करने वाले मिल जाएँगे। पद मिल जाएगा, पर पद से नीचे उतरे तो ? फिर कौन पूछता है ? असली प्रतिष्ठा तो भीतर है। जिसके हृदय में सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है, परमात्मा प्रतिष्ठित हो जाता है, वह अमृत-पद का स्वामी है। श्रद्धा इसी अंतर्प्रतिष्ठा की पहल है।

कुर्सी या पद पाकर तुम बड़े कहलाए, तो तुम बौने हुए, कुर्सी महान हुई। तुम्हारे कारण पद या कुर्सी गौरवान्वित हुई, तो इसमें तुम्हारी महानता है। ओछे लोग पदों के पीछे दौड़ते हैं। महान लोगों के पीछे पद चलते हैं। तुम्हारी महानता कुर्सी के पाने में नहीं, उसके त्याग में है। तुम्हारा महान त्याग तुम्हारे प्रति श्रद्धा को साकार करेगा।

हम नाम या प्रतिष्ठा के पीछे पागल न बनें। हम काम में विश्वास रखें। काम स्वतः नाम देता है। जिसका केवल नाम तो है, पर काम नहीं, वह किसी भी क्षण धूल-धूसरित हो सकता है। उसके नाम की गाड़ी के चक्के कभी पंचर हो सकते हैं, हवा निकल सकती है।

मेरी समझ से हमें नाम के पीछे नहीं, काम के पीछे लगना चाहिए। व्यक्ति का काम नाम को स्थाई बनाता है। तब एक समय ऐसा आता है कि व्यक्ति तो चला जाता है, पर उसका काम उसकी याद दिलाता है।

साधना-पथ का दूसरा सोपान है वीर्य। वीर्य शक्ति का प्रतीक है, संकल्प और सामर्थ्य का परिचायक है। यहाँ वीर्य का संबंध शरीर के शुक्राणुओं से नहीं है। यह आत्म-ऊर्जा की बात है, मनोबल की। ब्रह्मचर्य उसी आत्म-ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करता है। लोगों ने ब्रह्मचर्य को न भोगने के साथ जोड़ा है। भोग से ब्रह्मचर्य का कोई सीधा संबंध नहीं है। ऐसे कई लोग मिलेंगे, जिन्होंने कभी सहवास न किया हो, पर इतने मात्र से वे ब्रह्मचारी नहीं हो गए। वे तो अभोगी हुए। ब्रह्मचर्य अभोग नहीं है, ब्रह्मचर्य चर्या है। खुद में चलना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य वास्तव में ब्रह्म-विहार है। अभोगी रुका हुआ है। ब्रह्मचारी कर्मयोग और ब्रह्मयोग का संवाहक है। वह स्वयं के ब्रह्म को उपलब्ध करता है। वह अपने वीर्य/ऊर्जा को पूर्ण सत्य की प्राप्ति में लगाता है। उसने वीर्य रोका नहीं, अपितु उसका जीवन-विकास के लिए उपयोग किया। भोगी उसे नाली में बहाकर उसकी सारवत्ता व मूल्यवत्ता को असार व निर्मूल्य कर देता है। अभोगी उसे भीतर दबा लेता है। ब्रह्मचारी वीर्य की शक्ति को ऊर्ध्वगामी

बना लेता है, जिसे हम कुंडलिनी का ऊर्ध्वारोहण कहते हैं। वह दूसरे अर्थों में इसी शक्ति की शिखर-यात्रा है।

साधना के ऊँचे शिखरों को छूने के लिए हमें सामर्थ्य तो जुटाना होगा। असमर्थ व्यक्ति जीवन के कारवाँ को मंजिल तक नहीं ले जा सकता। यदि सीढ़ियों को पार करना है, तो पाँवों की मजबूती तो चाहिए ही। बिना सामर्थ्य के तो आदमी को सीढ़ी ही मंजिल लगती है। शरीर भी स्वस्थ हो और मन भी, तभी तो सफर आसानी से होगा। संघर्ष तो यहाँ भी करना होगा। नदिया के बहते पानी के साथ बहना हो, तो बात अलग है। यहाँ बहना नहीं है। यहाँ तो तैरना है। किशती को किनारे पर नहीं रखना है। इसे तो भँवर के खतरों से गुजारना है। कहीं ऐसा न हो कि कर्तव्य-पथ पर कदम उठाने के बाद हम फिसल पड़ें। कहीं ऐसा न हो कि शरीर की कामाग्नि हमें झुलसा दे, मन की तृष्णा हमें तोड़ दे।

साधना के मार्ग में महावीर ने शरीर की स्वस्थता, मन की अडिगता और वातावरण की अनुकूलता को अनिवार्य माना है। पतंजलि कहते हैं – हर स्त्री-पुरुष वीर्यवान हों। आत्मवान् और पुरुषार्थशील हों। हम अपने विश्वास, आत्मविश्वास के स्वामी हों।

साधना-पथ का तीसरा चरण, जो इसमें तुम्हारा सहयोगी बनेगा, वह है स्मृति। यह महत्त्वपूर्ण चरण है। यदि स्मृति है, तो श्रद्धा अपने आप है। समाधि भी परछाई की तरह साथ-साथ आ जाएगी। लोग जो मालाएँ गिनते हैं, मंत्रों का जाप करते हैं, वह वास्तव में स्मृति को ही परिपक्व और सशक्त बनाने के लिए है। स्मृति की सघनता के लिए ही मंत्रों का विधान हुआ। संसार के सपनों को ओछा करने के लिए मंत्र-योग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। यदि हम हरे-हरे, राम-राम या अर्हम्-बुद्धम् का निर्बाध सतत स्मरण करते चले जाएँ, तो संसार से अनिवार्यतः अनासक्त होते जाएँगे। फिर भीतर में स्वप्न नहीं, वरन् जागरण होगा। तुलसी और सूर ने इसीलिए तो नाम-स्मरण पर जोर दिया। यदि श्वासोश्वास के साथ स्मृति जुड़ जाए, तो रात में नींद में भी जप-अजपा अनायास चालू रहेगा। यदि कोई दूसरा हमें देखेगा, तो बड़ा अचँभित रह जाएगा। यानी हम नींद में रहेंगे, लेकिन जप जागा हुआ रहेगा।

स्मृति तो धुन है। परीक्षा के दिनों में बच्चों को कैसी धुन सवार होती है। खाने को उसने खा भी लिया, सोने को वह सो भी गया पर, उसके ध्यान की समग्रता तो केवल पढ़ाई से ही जुड़ी रहती है। नतीजतन वह खाते वक्त भी पढ़ रहा है और सोते वक्त भी। ऐसी ही स्मृति जब परमात्मा की होगी, तो ज्ञानी कहते हैं कि तुम परमात्मा को पाने में बहुत जल्दी सफल हो जाओगे। परमात्मा की स्मृति से भरा हुआ हृदय ही तो प्रार्थना है। परमात्मा की पूजा से मतलब है उसके अहोभाव से सराबोर होना।

परमात्म-स्तुति जिस क्षण हो, वही तुम्हारे लिए ब्रह्म-मुहूर्त है और जहाँ हो, वहीं मंदिर है। ये क्षण चूकने जैसे नहीं होते। ब्रह्म-मुहूर्त चौबीस घंटों में कभी भी साकार हो सकता है। मंदिर कहीं भी मूर्त रूप ले सकता है। मूल्य हमारी स्मृति का है, प्रार्थना का है।

कहते हैं : सूरदास आँखों से अँधे थे। उनकी भक्ति दुनिया के लिए प्रेरणा है। अँधा आदमी अगर ध्यान और स्मृति के मार्गों से गुजर जाए, तो उसके हृदय की आँखें खुल ही जाती हैं।

एक दिन सूर रास्ते पर चलते-चलते गड़ढे में गिर गए। थोड़ी ही देर में उन्होंने पाया कि कोई चरवाहा गड़ढे के पास आकर कह रहा है – ‘बाबा मेरा हाथ पकड़कर बाहर आ जाओ।’ चरवाहे ने सूर को बाहर निकाला। सूर ने उसका हाथ मजबूती से पकड़ लिया। चरवाहे ने कहा, मेरा हाथ छोड़ो। सूर मुझे अपनी गायें चरानी हैं। पर सूर ने कहा – मैं तुम्हारा हाथ नहीं छोड़ूँगा। तुम तो मेरे कान्हा-कन्हैया हो। उसने कहा कि नहीं, मैं तो सिर्फ चरवाहा हूँ। तुम्हें गड़ढे में पड़ा देखा, तो बाहर निकाल दिया और यह कहकर उसने सूर से अपना हाथ छुड़ाया और भाग गया। सूर ने कहा –

हाथ छुड़ाकर जात हो, निबल जानके मोहे।

हृदय से जब जाओगे, तो सबल मैं जानूँ तोहे॥

हृदय से जाना संभव नहीं है। तुम किसी को बाहर मिलने से रोक सकते हो, पर हृदय से नहीं निकाल सकते। प्रार्थना का संबंध तो हृदय से है। हृदय की नौका के सहारे ही परमात्मा के उस पार को पाया जा सकता है।

हृदय की स्मृति! इससे बढ़कर कोई सुकून नहीं होता। कबीर और आनंदघन ने स्मृति को सुरति कहा है। सुरति का वास्तविक अर्थ स्मृति ही है। कबीर जैसा गृहस्थ योगी तो सुरति को ही परमात्म-प्राप्ति का अमोघ और अचूक उपाय बताते हैं। कबीर ने जाप का विरोध किया, माला-मणियों का भी विरोध किया, मंदिर-मूर्ति से भी वे कटे: पर वे अगर किसी पर पूरी तरह डटे रहे, तो वह मात्र सुरति है, स्मृति है। उनकी दृष्टि में तो स्मृति अनहद से भी परा की स्थिति है –

जाप मरै अजपा मरै, अनहद भी मरि जाय।

सुरति समानि सबद में, ताहि काल नहीं खाय॥

मृत्युंजय तो सिर्फ उसी समग्र की स्मृति ही है। स्मृति अगर सम्यक् हो, समग्र हो, तो यही समाधि का सिंह-द्वार बन जाती है।

सदा एक सम्यक् स्मृति हो। स्वयं की सतत स्मृति का नाम ही साधना है। लक्ष्य कभी आँखों से ओझल न हो। सतत एक ही स्मृति और वह है मुक्ति की,

भगवत्ता की, परमात्मा की। यह स्मृति ही हमें साधना के अंतिम चरण तक ले जाएगी, जिसे कहा जाता है समाधि। एक अपूर्व स्थिति, आनंद स्थिति, अंतःस्थ स्थिति।

समाधि को हम आम तौर पर साधना की मंजिल मानते हैं, किंतु वह मंजिल नहीं है। समाधि तो रास्तों का रास्ता है। समाधानों का समाधान है। मंजिल तो कैवल्य है, अमृत-पद है। समाधि, शांत मनःस्थिति का नाम है। मन की उथल-पुथल असमाधि है और मन के सरोवर का शांत/निस्तरंग होना समाधि है। चित्त का साफ-सुथरा व स्वच्छ शीशे जैसा होना समाधि ही है। समाधि में प्रवेश करना हो, तो पहले स्मृति से गुजरें, ध्यान में बैठें, प्रभु का स्मरण करें, उसकी सुरति के रंग में भीगें और फिर शांत हो जाएँ। यही तो वह प्रक्रिया है, जो हमें श्रद्धा से स्मृति में और स्मृति से समाधि में ले जाती है।

साधना का यह दिव्य-पथ प्रज्ञापूर्वक हो। यदि प्रज्ञा नहीं हो, तो श्रद्धा अंध श्रद्धा बन सकती है। संकल्प भ्रान्ति के गलियारे में ले जा सकता है, स्मृति संसारोन्मुख हो सकती है, समाधि बेहोशी बन सकती है।

इसलिए जो कुछ हो, प्रज्ञापूर्वक हो, बोधपूर्वक हो। प्रज्ञा का अर्थ है बोध, होश। साधना के दूसरे चरण के कारण हम जोश में भी आ सकते हैं। मगर वह जोश किस काम का, जिसमें होश न हो। जहाँ श्रद्धा और प्रज्ञा – दो तत्त्वों का अद्भुत समावेश है, वह वैज्ञानिक भी है और रसपूर्ण भी।

प्रज्ञा कोई पांडित्य नहीं है, यह तो विवेक-बुद्धि है, समझ और सजगता है। प्रज्ञापूर्वक चलने वाला साधक न कभी फिसल सकता है और न कभी च्युत हो सकता है। वह जो करेगा, जितना करेगा, उससे वह परितुष्ट/परितृप्त ही होगा। जितना हुआ, उतना पाया। दीप जल रहे हैं डगर-डगर पर। जितना आगे बढ़ोगे, रोशनी का पैमाना उतना ही बढ़ेगा। सिर्फ ज्योति-दर्शन ही नहीं होगा, मनुष्य स्वयं ज्योतिर्मय होता जाएगा। फिर तो वह ऐसा प्रकाश-पुंज होगा, जो युग-युगों तक ज्योतिर्मय रहेगा और दुनिया उसके प्रकाश में चलेगी। और भी लोगों को इस उज्ज्वल पवित्र मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलेगी, उसी ज्योति के सहारे। ज्योति से ज्योति जलाओ – स्वयं ज्योतिर्मय बनो और सबको ज्योतिर्मयता का सुकून दो। स्वयं भी तिरो और औरों को भी तिरने-तारने का मार्ग दो। आखिर, खुद पहुँचे हुए लोग ही औरों को कहीं पहुँचा सकते हैं।

आपकी साधनारत आत्मा को प्रणाम।

अमृत प्रेम।



चरैवेति-चरैवेति

जीवन के सर्वोदय के लिए कर्मयोग ही प्रथम और अंतिम द्वार है।



मा नवीय चेतना के कई चरण हैं। कुछ ऐसे, जो सो रहे हैं। कुछ ऐसे हैं, जो जगे हैं। कुछ उठ बैठे हैं। कुछ ऐसे हैं, जो चल पड़े हैं। जो सो रहा है, वह कलि है। निद्रा से उठ बैठने वाला द्वापर है। उठकर खड़ा हो जाने वाला त्रेता है, लेकिन जो चल पड़ता है, वह कृत है, सत् है, स्वर्ण-पुरुष है। चरैवेति-चरैवेति – इसलिए चलते रहो, निरंतर चलते रहो प्रगति के पथ पर, कल्याण के मंगलमय मार्ग पर।

कलि: शयानोभवति, संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन् ॥

जो सो रहा है, वह कलि है। सोने का अर्थ है मूर्च्छा में पड़े रहना। कलि का संबंध बुरे समय से नहीं है, मूर्च्छित मानसिकता से है। कलियुग आज भी है, हजारों वर्ष पूर्व भी था। मनुष्य के मन पर जब तक मूर्च्छा का कोहरा छाया रहेगा, तब तक वह कलि ही रहेगा, कलियुग में ही जीता रहेगा। अतीत के इतिहास में अभी तक ऐसा समय नहीं आया, जब सबके लिए कलियुग हो या सबके लिए सतयुग। कलियुग अब भी है, तब भी था। सतयुग तब भी था, अब भी है। विश्व के ग्लोब पर रंग उकेरने की दरकार है, पर वह कभी रंगा हुआ था, फिर रंग उड़ गया, इसलिए नहीं। रंग कभी पूरा हुआ ही नहीं तो उसके उड़ने, घिसने या पुराना पड़ने का सवाल ही कहाँ आता है ?

समय के हर धरातल पर कलि और स्वर्ण होते रहे हैं। जो मूर्च्छा-मुक्त हुए, जागे, बढ़े, चैतन्य-केंद्रित हुए, वे स्वर्ण-पुरुष हुए। मूर्च्छा और मुक्ति – दोनों की संभावना सदा-सदैव रही है और रहेगी भी। ऋषभ, शिव और मनु के समय भी लोग मूर्च्छा में औंधे सोए पड़े थे। महावीर व बुद्ध के समय में भी सारे लोगों की मूर्च्छा

टूटी नहीं थी। मूर्च्छा तो आज भी है। मूर्च्छा टूटना ही चैतन्य-जगत् के द्वारों का उद्घाटन है। कलि और कृत – ये वास्तव में समय के चरण नहीं है। ये चरण तो चेतना के हैं।

जिन्होंने अपने समय को त्रेता और सत कहा, उन्होंने कोई गलत नहीं कहा क्योंकि उनके लिए तो वे स्वयं कृत थे, तो उनका युग उनके लिए कृत-युग ही होगा। यह आधार तो जीवन-दृष्टि के मूल्यांकन पर है। यह देश भी कभी सोने की चिड़िया, रत्नों की खान कहलाया करता था। पता नहीं, वह सोने की चिड़िया कब रहा ! जिस देश में नरमेध-यज्ञ होते थे, स्त्रियों को बाजार की चौखट पर सरे आम बेचा जाता था, गरीबों को गुलाम बने रहने पर मजबूर होना पड़ता था, वहाँ स्वर्ण-युग आया ही कब ? युग का आदर्श तो अब आएगा। देख नहीं रहे हो युद्ध के खिलाफ बोलते लोगों को, मृत्यु-दंड के विरोध में उभरते स्वर्णों को। अब तो गुलामों को भी स्वतंत्रता के दिन देखने को मिल रहे हैं। नारी-कल्याण वर्ष मनाए जा रहे हैं। कैदियों के प्रति भी मानवाधिकारों की रक्षा की बात उठ रही है। पर तब ? जहाँ दरिद्रता व गुलामी चरम सीमा पर हो, नारी को जुए में चढ़ा दिया जाता हो, सरे बाजार खरीद-फरोख्त होती हो, वहाँ अपने आपको सोने की चिड़िया कहना मात्र अपने खून रिसते घाव को माटी से ढकना है।

अच्छे-बुरे, सोए-जागे लोग तो समय के हर धरातल पर होते रहते हैं। यदि तुम भी अपनी नींद को झाड़ दो, आँखें खोल लो, तो तुम भी कलि से द्वापर बन जाओगे। उठ बैठो तो त्रेता, और चल पड़ो तो स्वर्ण, कृत। अमृत-पुरुष वह है, जो पहुँच चुका है।

कहते हैं : श्रीकृष्ण ने कलि-दमन किया। कलि वास्तव में प्रतीक है प्रगाढ़ निद्रा का, मूर्च्छा का। पता नहीं कितने लोग कलि की पूँछ की चपेट में आ जाते हैं। वे लोग अमृत-पुरुष कहलाते हैं, जो उसी की पूँछ से उसके नथुनों को बींध डालते हैं। जो कलि की पूँछ के नीचे दबे पड़े हैं, वे मूर्च्छा में अधमरे पड़े हैं और वे दबे पड़े हैं कलि के भार से। जो मूर्च्छा से जगकर चैतन्य-जीवन की ओर चल पड़े हैं, वे कलि के शीष पर हैं, कलि उनके पाँव तले। ऐसे पुरुष सतयुग में जीते हैं और महामानव की संज्ञा पाकर अमृत-पुरुष हो जाते हैं। जैसे कृष्ण कलि को बींधकर उसके सिर पर नृत्य करते हैं, ऐसा ही जीवन में आनंदोत्सव होता है। जो चरैवेति-चरैवेति को तहेदिल से स्वीकार कर लेता है, वही स्वर्णिम सवरे का साक्षात्कार करता है। अपनी खोज जारी रखो। पहाड़ों के पार भी पहाड़ संभावित हैं। मंजिल गंतव्यपूर्ण यात्रा है। आखिर उस बिंदु तक पहुँच जाओगे, जो जीवन का मूल संचार केंद्र है।

आम आदमी औसतन मूर्च्छित है। मूर्च्छा जितनी प्रगाढ़ होगी, धर्म का माधुर्य उतना ही फीका लगेगा, जितना बुखार में मीठा रस। वे लोग मूर्च्छित हैं, जो नहीं जानते कि वे कौन हैं, क्यों हैं, किसलिए हैं? कहाँ से आए हैं, कहाँ जा रहे हैं, उनका स्वभाव क्या है? जिन्हें यह सब जानने की अभीप्सा नहीं है, वे मूर्च्छित हैं। स्वयं के बारे में कौन जानना चाहता है? लोगों ने ज्ञान का संबंध तो दूसरों के साथ जोड़ रखा है। हर व्यक्ति दूसरों को जानना चाहता है।

भले ही कोई संतुष्ट हो जाए कि मैंने अमुक-अमुक को जान लिया है, उसका ज्ञान दिग्भ्रमित है, दिशा भूला है। मुखौटों को भी पहचानने में मुश्किल हो रही है, जीवन का अंतस्तल जानना तो बहुत दूर की बात है।

करीब दो हजार वर्ष पुरानी एक बहुमूल्य किताब है 'आयारो'। यह शास्त्रों का शास्त्र है। इसकी शुरुआत ही मूर्च्छा-बोध और जागरण-संदेश से हुई है। मूर्च्छित उसी को बताया गया है, जो नहीं जानता कि वह कहाँ से आया है, उसे कहाँ जाना है, उसका स्वभाव, उसका जीवन-स्रोत क्या है! अपने प्रयत्नों से या किसी सद्गुरु के सतत संपर्क से यह मूर्च्छा तोड़ी जा सकती है। मूर्च्छा का टूटना ही जागरण है। मूर्च्छा से बाहर निकल आना ही चैतन्य-क्रांति है। मूर्च्छा पाँव में पड़ी बेड़ी है। बेड़ियों से मुक्त होना ही आत्म-स्वतंत्रता है।

ध्यान मूर्च्छा से अपनी आँखें खोलने के लिए है। किसी सद्गुरु के प्रयास से या जीवन में लगने वाले किसी आघात से मूर्च्छा टूट जाए, तो अलग बात है, किंतु अपने प्रयासों से मूर्च्छा को तोड़ने के लिए ध्यान सबसे बेहतरीन कारगर उपाय है। तुम मूर्च्छित हो या जागृत, इस चिंता को छोड़ो। सिर्फ ध्यान में डूबो। ध्यान मूर्च्छा से जागरण की पहल है। ध्यान में उतरने वाला ही मूर्च्छा की मनःस्थिति को समझता है। मूर्च्छा के चलते ही तो मनुष्य ने अपने मस्तिष्क को राग-द्वेषजनित अनुबंधों का कूड़ादान बना रखा है। मस्तिष्क कचरा एकत्र करने की पेटी नहीं है। वह बुद्धि और ज्ञान का आधार है। सत् और असत्, मर्त्य और अमर्त्य के बीच भेद समझने के लिए है यह। पथ और विपथ का निर्णय इसी के जरिए होता है, ताकि जीवन में कभी पतझड़ और कभी बसंत की बजाय सदाबहार मस्त ऋतु बनी रहे। हर हाल में शांति का स्वामी बने रहना जीवन का सदाबहार आनंद स्वरूप है।

ध्यान अग्नि है, मन में भरे कषाय, विकार और अज्ञान के कचरे को राख करने के लिए। मनुष्य मूर्च्छित इसलिए बना रहता है, क्योंकि उसे लगता है कि उसकी तृष्णा उन लोगों से परितृप्त हो रही है, जिसको उसने अपना मान रखा है। वह मूर्च्छित सिर्फ उन लोगों के प्रति ही नहीं है वरन् उन बिंदुओं पर भी मूर्च्छित है, जो कभी हो चुके; उनके प्रति भी, जो कभी होंगे। जो 'था' में जीता है, जो 'नहीं है' में जिएगा,

वह रीता ही मरेगा। अतीत 'था', भविष्य 'होगा'। जो हो चुका, वह अभी नहीं है, और जो होगा, वह भी अभी नहीं है, और लोग पिस रहे हैं बीते-अनबीते के दो पाटों के बीच में।

अतीत की स्मृति सताए जा रही है, तो भविष्य की वासना/कल्पना आकुल-व्याकुल कर रही है। मनुष्य अपने ही हाथों से अपने अधिकारों का अतिक्रमण कर रहा है। अतीत भी सपना है और भविष्य भी सपना है। एक वह सपना है, जिसे कभी देखा और दूसरा वह सपना है, जो अभी तक आया नहीं है। जो इन दोनों स्थितियों से आँखें हटा लेता है, वह त्रेता-पुरुष है। यह जागरण है। जागरण का आध्यात्मिक नाम संन्यास है, मुनित्व का विनियोजन है। पर मनुष्य है ऐसा, जो नकली स्वर्ण-मृग के पीछे जीवन की सच्चाई को खो रहा है। मृग सूर्य-किरण को जल का स्रोत समझकर दौड़े तो बात समझ में आती है। मृग बेचारा अबोध प्राणी है, किंतु मृग से भी ज़्यादा अबोध तो हम दोपाया मनुष्य हैं, जो उसे स्वर्ण-मृग मानकर उसके पीछे अपना तीर-कमान लेकर निकल पड़े हैं।

जो है ही नहीं, उसके पीछे क्या लगना! जो है, उसके लिए अपने पुरुषार्थ का उपयोग करें। जो है, वह 'है' में है, स्वयं में है। कस्तूरी कुंडल बसै – स्वयं के ही नाभि-केंद्र में समाई हुई है वह कस्तूरी, जिसके चलते सुगंध तुम्हें निमंत्रण दे रही है। मनुष्य है ऐसा, जो अपने व्यक्तित्व का उपयोग 'अभी' के लिए नहीं कर रहा है। वह अपनी इच्छा-शक्ति को बचाए रखना चाहता है – कभी और के लिए, किसी और के लिए, कहीं और के लिए –

एक सर्द मौसम और आगे आने वाला है।

आग अपने सीने में कुछ दबी भी रहने दो ॥

शक्ति उद्यम के लिए है। 'उद्यमो भैरवः' उद्यम ही भैरव है। भैरव प्रतीक है ब्रह्म का, पुरुषार्थ का, चैतन्य-क्रांति का।

भैरव देवता माने जाते हैं। लोग संकट की घड़ी में, असफल हो जाने पर भैरव की पूजा-अर्चना करते हैं। रण-मैदान में जाने से पहले भी भैरव को मनाते हैं। क्या आप जानते हैं कि भैरव क्या है? हमारा उद्यम ही हमारा भैरव है। हमारा विश्वास और पुरुषार्थ ही हमारे जीवन का भैरव है। पतंजलि ने बड़ा अच्छा शब्द दिया 'उद्यमो भैरवः' – उद्यम ही भैरव है।

उद्यम ऊँचा यम है। उद्यम हो मूर्च्छा के कारागृह से बाहर निकलने का। उद्यम हो श्रद्धा, सामर्थ्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का। उद्यम जितना तीव्रतम/पवित्रतम होगा, सिद्धि उतनी ही करीब होती जाएगी। उद्यम कोई चुल्लू भर पानी में डूबना नहीं है। समग्रता से किया जाने वाला आध्यात्मिक प्रयास ही उद्यम है। वेग जितना तीव्र

होगा, गंगा गंगासागर की निकटता उतनी ही जल्दी पाएगी। प्रवाह यदि तीव्रतम है, तो वह सिर्फ़ निर्झर ही नहीं है, वरन् विद्युत् उत्पादन का कारण भी है। सूर्य स्वयं में आग का गोला है। वह अपनी किरणों को बिखेर रहा है। अगर वह अपनी समग्र किरणों को अपने में समेट ले, तो जरा कल्पना करो कि उसकी शक्ति उससे कितनी गुना हो जाएगी! जब दो बादल परस्पर टकराते हैं, तो अपनी समग्रता के साथ टकराते हैं। उनके संवेग बड़े तीव्र होते हैं।

‘तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः’ जिनके साधन की गति तीव्र है, उनकी समाधि/सिद्धि शीघ्र सधती है। चाहे जैसी सघन घटा हो, निशा का चाहे जैसा तिमिर डटा हो, किंतु धरती और आसमान को ज्योतित करने के लिए विद्युत् की एक चमक ही काफी है। बस, शर्त यही है कि वह समग्र हो, तीव्रतम हो, परिपूर्ण हो।

वास्तव में उद्यम और प्रयत्न ही जीवन की जीवंतता हैं। ‘उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथः। उद्यम करो तो सिद्धि मिलेगी। केवल मनोरथ करने से कार्य-सिद्धि संभव नहीं है। मन बड़ा आलसी है। उसे सीढ़ी ही मंजिल लगती है। जब तक पंखों को हवा में न खोलें, तब तक पंछी के लिए आकाश जीवन का उत्सव-स्थल नहीं, अपितु मृत्यु का खतरा दिखाई देता है। पर आकाश में उड़ने का खतरा तो मोल लेना ही होगा, तभी पंखों की सार्थकता है।

मैंने सुना है : किसी पक्षी-दंपती के घर एक बच्चा पैदा हुआ। उसके पंख भी लग आए, पर वह उड़ना नहीं चाहता था। उसके माता-पिता ने उसे आकाश में उड़ने के लिए प्रेरित भी खूब किया, पर वह तो आकाश को देखते ही डर के मारे अपनी आँखें मूंद लेता। अपने नीड़ को और मजबूती से पकड़ लेता है। आखिर उसके माता-पिता ने एक योजना बनाई और बच्चे को घोंसले से धक्का दे मारा। पेड़ की टहनी से वह जमीन पर गिरे, उससे पहले ही पता नहीं कैसे, उसके पंख स्वतः ही खुल गए। जमीन तक पहुँचा भी, लेकिन एक पल जमीन पर ठहरे बिना पंखों को फड़फड़ाता हुआ वापस अपने घोंसले में पहुँच गया। बच्चा काँप रहा था, पर दंपती प्रसन्न थे। उन्होंने उसे अपनी गोद में उठा लिया और प्यार से अपने आँचल में भर लिया।

यदि मन की मानते रहोगे, तो घोंसले से आगे न बढ़ पाओगे। मन को बुझाओ/समझाओ। जीवन का अंतर्मार्ग अज्ञात है, किंतु अज्ञेय नहीं। ज्ञात से अज्ञात में उड़ान भरने में भय जरूर लगेगा, पर जिसने सीख लिया – ‘चरैवेति-चरैवेति’ का कर्मयोग-सूत्र, वह अपने प्रयास को प्रमाद की सीढ़ियों पर नहीं बैठने देगा।’ अप्रमाद साधक की सबसे बड़ी शक्ति है। अप्रमाद से ही साधना में गति-प्रगति है। प्रमाद साधना का शत्रु है। अप्रमाद साधना-क्षेत्र का सबसे प्यारा मित्र।

तुम प्रमाद की सीढ़ियों पर मत बैठो। सीढ़ी पर बैठना तो ठहरना है। जीवन ठहराना नहीं है, बल्कि चलते रहना है। ठहरना तो जीवंतता पर चूना पोतना है। जीवन तो श्रम है। इसलिए श्रम में अपनी समग्रता लगाओ। विश्राम जीवन की भाषा नहीं है। विश्राम तो मृत्यु का नाम है। चलना ही तो धर्म है। जो रुक गया, वह धार्मिक नहीं, अपितु अधार्मिक है। कर्म करना हमारा कर्तव्य है, अधिकार है। फल की चिंता मत करो, क्योंकि सही कर्म का फल कभी गलत नहीं हो सकता।

‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः’ – यह उद्घोष श्रीकृष्ण का है। आनंदघन ने कृष्ण की परिभाषा दी है – ‘कर से कर्म कान्ह कहिए’ – जो कर्म करता है, वह कृष्ण है।

कर्मयोग ही जीवन के सर्वोदय का प्रथम द्वार है।

महावीर अपने शिष्यों से यही तो बात कहते हैं कि तुम चलो। ‘उट्टिए णो पमायए’ – उठो, प्रमाद मत करो। उत्थित होने के बाद प्रमाद करना अपौरुष है। तुम उठो, जागो, सतत आत्म-जागृत रहो। प्रमाद तुम्हारा धर्म नहीं है। दो कदम आगे रखो। मुक्ति के अप्रमत्त साधक बनो।

फिजा नीली हवा में सुरूर।

ठहरते नहीं आशियां में तयूर॥

अगर जीवन का कुछ बोध हुआ है, या बोध पाने के लिए कोई अंतरभाव जगा है, तो बढ़ो। जिनके पंख लग आए हैं, वे आगे आएँ और अज्ञात में छलाँग लगाकर उसे ज्ञात करें। जहाँ हो, वहाँ बेर खट्टे हैं। आगे बढ़ो महकते बदरीवन में। ‘वैली ऑफ फ्लावर्स’ में आपकी प्रतीक्षा है। ‘चलती का नाम गाड़ी है, खड़ी का नाम खटारा’ – चलो तो ही कृतार्थ होओगे। अपना होश, अपना बोध, अपना जोश – तीनों को एक करो। विराट को पाने के लिए विराट उद्यम में संलग्न हो जाओ। साधना कोई मक्खी उड़ाना नहीं है। वह तो हमारा निर्णय है। हमारी अभीप्सा की पूर्ति के लिए माध्यम है साधना। ‘सडन एनलाइटेनमेंट’ समाधि और सिद्धि तत्काल हो सकती है। जरूरत है ऊँचे संकल्प की, उद्यम की, तत्परता की। मूर्च्छा की नींव बड़ी गहरी है। जब तक समग्रता से सतत न जुड़ोगे, तब तक वह मूर्च्छा जड़ से हटने वाली नहीं है। प्रयास हो परिपूर्ण। कुनकुने प्रयासों से ऊर्ध्वरोहण नहीं हो सकता।

किसी योगी ने कहा, ‘परमात्मा सबकी रक्षा करता है।’ उसकी बात सम्राट को न रुची। सम्राट ने उसे बाँधकर बर्फीली नदी में खड़ा कर दिया। सम्राट ने तो सोचा कि शायद वह बर्फ में जमकर मर गया होगा, किंतु वह योगी सम्राट के सामने दूसरे दिन भला-चंगा खड़ा था। पूछताछ करने पर एक सैनिक-प्रहरी ने कहा – यह रात भर नदी में खड़ा उस दीए को एकटक निहारता रहा, जो आपके महल में जल

रहा था। सम्राट ने कहा, यह धोखा है। तुम दीए के ताप के सहारे नदी में रहे।

योगी सम्राट के तर्क पर मुस्कराया। उसने थोड़े दिनों बाद सम्राट को दावत दी। सम्राट सुबह ग्यारह बजे ही भोजन के लिए पहुँच गया। संत ने बताया, भोजन तैयार हो रहा है, परंतु दोपहर होने तक भी भोजन न मिला। सम्राट ने पूछा, 'क्या बात है? अभी तक भोजन नहीं पका?' संत ने कहा, 'पक रहा है।' आखिर साँझ होने को आ गई। सम्राट बेचैन हो उठा। भूख के मारे बड़ी दयनीय दशा हो गई थी उसकी। वह जब भी भोजन के लिए पूछे, संत की एक ही बात सुनने को मिलती – 'पक रहा है महाराज! बहुत जल्दी पक जाएगा।' भोजन किए बगैर लौटना भी राजा को न जँचा।

अंत में राजा का धीरज टूट गया। वह उसके रसोईघर में गया, क्योंकि खाना पकने में इतनी देर तो लग ही नहीं सकती थी। राजा देखता क्या है कि चूल्हे पर बड़ा भारी पतीला रखा है और उसमें चावल भरा है, मगर चूल्हे में आग का एक अँगारा भी नहीं। सम्राट बोला, 'मूर्ख! यह तू क्या कर रहा है? यों यह चावल कैसे पकेगा?' संत ने कहा – 'उसी दीए की आग से हम चावल पका रहे हैं, जिसके ताप से हम उस रात बच गए थे।'

महल के दीए से...! कहीं यही दुर्दशा तो हमारी नहीं है कि साधक और साध्य में इतनी दूरी बनी हुई है, जितनी पतीले और महल के दीए में है। तपेला तो चढ़ा रखा है मन का इतना बड़ा, और आग का कहीं पता ही नहीं है। यदि है भी तो एक-दो अँगारे। आग प्रभावी हो, पूरी हो। व्यक्ति समग्रतः पुरुषार्थशील हो।

जैसे सारी सरिताएँ सागर में जाकर समा जाती हैं, वैसे ही जब सारी इच्छाएँ उस परम तत्त्व की खोज में, उपासना में समर्पित होंगी, तो समाधि और परमात्मा के द्वार उसी वक्त खुल जाएँगे। ऊर्जा की, आग की सघनता से ही पानी उबलेगा, भाप की तरह ऊर्ध्वगमन करेगा।

जो चलता है, अनवरत लक्ष्य की ओर गतिशील रहता है, वही गंगोत्री से गंगासागर तक की यात्रा पूरी करता है। फिर 'बूँद' बूँद नहीं रहती सागर हो जाती है। ज्योति परमज्योति में शाश्वत समाधिस्थ हो जाती है। चेतना के हर चरण पूरे हो जाते हैं। वह चैतन्य पुरुष हो जाता है। चलने वाला कृत है, सत् है, स्वर्ण है और पाने/पहुँचने वाला अमृत है, अमर है, प्रकाश से सराबोर है। कृत का तुम्हें आमंत्रण है, कलि को कृत बनाने के लिए, स्वर्ण और अमृत बनाने के लिए।



समर्पण की सुवास

नैतिक, पवित्र, स्वस्थ जीवन जीना ही
परमपिता परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा है।



अधिक स्वस्थ, स्फूर्त और ऊर्जावान् जीवन जीने के लिए संसार का एक सर्वश्रेष्ठ मार्ग है और वह है योग। योग यानी जुड़ना। अपने आपके साथ जुड़ना, परमात्म-शक्ति से जुड़ना योग है। यदि आपको स्वास्थ्य-लाभ चाहिए तो मैं कहूँगा, आप योग अपनाइए। यदि मन की शांति चाहिए तो आप योग अपनाइए। योग जीवन के हर कदम पर आपका सहयोगी बनेगा। आप योग को अपना मित्र बनाइए। योग आपको सबका मित्र बनाएगा, कल्याण-मित्र ! विश्वमित्र !

पतंजलि, महावीर, बुद्ध – ये तीनों योगमार्गी हैं। पतंजलि हमें योग की बारीकियों से परिचित कराते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि – पतंजलि के योग का बहुत सुव्यवस्थित मार्ग है। महावीर यम को व्रत कहते हैं और बुद्ध शील। हिंसा, चोरी, झूठ, उपभोग और संग्रह-वृत्ति पर अंकुश लगाना ही यम है। गलत और अनैतिक कार्यों को त्यागे बिना योग को नहीं जिया जा सकता। स्वाध्याय, भक्ति और मर्यादा नियम हैं। शरीर की जड़ता और तनाव को दूर करने के लिए आसन/योगासन हैं। अपनी इंद्रियों को आत्मस्थिति की ओर लौटाना प्रत्याहार है। प्राणशक्ति का विस्तार करना प्राणायाम है। अंतर्मुखी होने के लिए संकल्पशील होना धारणा है। अंतर्स्वरूप में स्थित होना ध्यान है और उसकी पराकाष्ठा को छूना समाधि है।

पतंजलि का योग-मार्ग एक संपूर्ण जीवन-दर्शन को लिए हुए है। यह एक 'संपूर्ण मार्ग' है। अत्यंत व्यावहारिक और अत्यंत वैज्ञानिक। मुझे विश्व के महापुरुषों की जो-जो बातें विशेष अच्छी लगतीं, उनमें यह एक है। मैं महर्षि पतंजलि का

प्रशंसक हूँ, समर्थक हूँ। पतंजलि के इस वैज्ञानिक मार्ग को पूरे विश्व में स्थापित किया जाना चाहिए। पतंजलि को किसी धर्म, पंथ, परंपरा या समय से नहीं बांधा जाना चाहिए। योग का कोई धर्म नहीं होता। सारे धर्मों का मार्ग योग है। दुनिया भर के सारे धर्म जिस एक मार्ग पर आकर एकत्रित होते हैं, उसका नाम योग है। योग समूह में भले ही किया जाता हो, पर यह नितांत व्यक्तिगत है। इसे औरों के बलबूते पर नहीं, अपितु अपने बलबूते पर ही जिया जा सकता है। योग वास्तव में जीवन की दृष्टि है। हमारा हर कार्य योगमय हो, यहाँ तक कि उठना-बैठना, खाना-पीना और पलक झपकना या साँस लेना भी योगमय हो। योग व्यक्ति को आत्म-जागृत करता है, ऊर्जिवान् बनाता है। वह व्यक्ति की मानसिक दशा को उन्नत करता है।

योग के दो मार्ग हैं – एक है संकल्पशील होना; दूसरा है समर्पणशील होना। पहले में स्वयं पर विश्वास है, दूसरे में ईश्वरीय चेतना पर विश्वास है। शुरू में भले ही दोनों अलग-अलग मार्ग लगे, पर गहराई में दोनों एक दूसरे के पूरक लगते हैं। स्वयं से शुरुआत होती है और परमात्मा पर पूर्णता मिलती है। आत्मा प्रस्थान-बिंदु है, परमात्मा मंजिल है। मार्ग चाहे कर्मयोग का हो या ज्ञानयोग का अथवा भक्तियोग का हो या ध्यानयोग का, सारे मार्ग व्यक्ति को बेहतर जीने, उच्च जीवन, पराशक्ति से संपन्न जीवन जीने की कला प्रदान करते हैं।

इस जीवन-दृष्टि को योग ने दो विशेष शब्द दिए हैं – एक तो है आत्म-संविधान और दूसरा है ईश्वर-प्रणिधान। आत्म-संविधान का मार्ग संकल्प है, जबकि समर्पण ईश्वर-प्रणिधान का। आत्म-संकल्प ही वास्तव में आत्म-संविधान है, और आत्म-समर्पण ही ईश्वर-प्रणिधान। संकल्प जिनत्व और बुद्धत्व की आधारशिला है और समर्पण भक्त से भगवान होने का मार्ग है। ज्ञान, ध्यान और साधना वास्तव में संकल्प के ही अंग हैं। समर्पण ईश्वर की भक्ति और उसके परम प्रेम का परिचायक है।

योग-दर्शन में पतंजलि ने दो सूत्र दिए हैं – ‘श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकम्’ और ‘ईश्वर-प्रणिधानात् वा’। श्रद्धा, सामर्थ्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक चरण बढ़ाने से निर्बीज समाधि सधती है। दूसरा मार्ग ईश्वर की भक्ति का है। पतंजलि ने इसे ईश्वर-प्रणिधान कहा है। ईश्वर की शरणागति का नाम ही ईश्वर-प्रणिधान है। मार्ग चाहे संकल्प का हो या समर्पण का, दोनों की शुरुआत श्रद्धा से है, निष्ठा से है।

संकल्प-मार्ग का पथिक स्वयं की आत्मचेतना से ही साक्षात्कार में लगा हुआ रहता है, जबकि भक्त अपने अहं को भूल जाता है। वह अपने आपको ईश्वर में ही ढूँढ़ता है; न केवल स्वयं को वरन् अपनी अस्मिता को भी। ‘मैं’ भी उसी में

ढूँढ़ता है और 'हूँ' भी उसी में खोजता है। उसका तो जो कुछ भी कर्म होता है, सब कुछ उसी के लिए होता है। पुकार उसी की, निमंत्रण भी उसी को; दर्शन भी उसी का और समर्पण भी उसी को।

तू तू करता तू भया, मुझमें रही ना हूँ।
वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तू॥

उसकी सारी भावना और स्मृति एकमात्र परमात्मा से जुड़ी हुई होती है। जहाँ जीवन में सिर्फ उसी की याद बनी रहती है, वहाँ ईश्वर स्वयं उसे अपने हृदय में स्थान दे देता है। भक्ति यदि अडिग है, तो जाप, अजपा और अनहद की भी कोई चिंता नहीं रहती। याद जितनी गहन होगी, 'मैं' मिटता जाएगा और 'तू' उभरता चला जाएगा। 'मैं' का खोना अहंकार का खोना है। परमात्मप्राप्ति के लिए अहंकार को तो समाप्त होना ही पड़ता है। अहंकार ही तो परमात्मप्राप्ति की सबसे बड़ी बाधा है। सिर्फ परमात्मा के सामने मस्तक नमाने से ही परमात्मा के द्वार पर प्रवेश नहीं हो पाएगा। मस्तक तो नमे अहंकार का।

अहंकार के मस्तक का नमना ही परमात्मा के साम्राज्य में प्रवेश पाना है। अहंकार के टूट को तो नमाना ही होगा। परंतु ध्यान रखें, अहंकार से एक और खतरनाक चीज है और वह है अहंकार की अस्मिता।

सामान्यतः हम परमात्मा को सभी चीजें समर्पित कर देते हैं, पर अपना अहंभाव समर्पित नहीं कर पाते। नतीजा यह निकलता है कि अहं के समर्पण के बिना समर्पित किया गया सारा मेवा-मिष्ठान्न व्यर्थ हो जाता है। ऐसा समझो – कोई आदमी गेट से बाहर निकला। हाथ निकल गया, माथा निकल गया, पेट और पाँव भी निकल गया, पर पाँव की अँगुली गेट में फँस गई। क्या ऐसे व्यक्ति को तुम निकला हुआ कह पाओगे ?

ऐसा हुआ। एक दिन संत गोसो ने अपने शिष्यों से कहा, एक भैंस उस आँगन से बाहर निकल गई, जिसमें वह कैद थी। उसने चौंभीते की दीवार तोड़ डाली थी। उसका पूरा शरीर दीवार से बाहर निकल गया – सींग, सिर, पैर, धड़ सब; लेकिन पूँछ बाहर नहीं निकल पा रही थी। और पूँछ कहीं फँसी हुई भी नहीं थी। पूँछ को किसी ने पकड़ भी नहीं रखा था। गोसो ने पूछा, क्या तुम बता सकते हो कि पूँछ क्यों नहीं निकल पा रही थी ? शिष्य भी आश्चर्य चकित हुए। वे सोचने लगे कि तभी गोसो ने कहा, जिसने भी इस बारे में सोचा, उसकी पूँछ भी उलझी।

क्या तुम समझ पाए कि यह पूँछ कैसी है, कौन-सी है ? जिसकी समझ में आ गया, उसकी भैंस पूरी बाहर निकल गई। जिसकी समझ में न आया, वे जरा अपनी पूँछ देखें।

अहंकार की पूँछ, 'मैं' की पूँछ मुक्त नहीं होने देती। अहंकार की पूँछ फिर भी बाँधे रखती है ?

अहं छूटे तो पूँछ छूटे। पूँछ क्या है ? अहंकार की अस्मिता। अहंकार यानी कुत्ता और अस्मिता यानी पूँछ। अहंकार यानी कुत्ते की पूँछ।

बहुधा ऐसा होता है कि अहंकार तो चला जाता है, किंतु अपने पद-चिह्न पीछे छोड़ जाता है। 'मैं' चला गया, किंतु 'हूँ' रह गया। 'मैं' अहंकार है और 'हूँ' उसकी परछाई। 'मैं' सिर है, 'हूँ' पूँछ। अहंकारी को झट से पहचाना जा सकता है, किंतु अहंकार की अस्मिता को नजरों में लाना कठिन है। उसी का यह परिणाम है कि निरभिमानी व्यक्ति को इस बात का अहंकार बना रहता है कि मुझमें अहंकार नहीं है। यह अहंकार की अस्मिता है। अस्मिता है, तभी तो विनम्रता को भी दर्शाया जा रहा है। जहाँ सहजता है, वहाँ अस्मिता कम है। जहाँ जीवन की हर गतिविधि में सिर्फ 'वही' बचता है, 'तू' ही बचता है, वहीं ईश्वर की समाधि सधती है।

जीवन-विकास के आध्यात्मिक चरण केवल दो ही हैं – या तो 'मैं' रहे या 'तू' रहे। 'मैं' में समा गया तो आत्म-समाधि का फूल खिल गया, मुक्ति जीवन में घटित हो गई; या फिर मैं को निर्मूल्य माना और संसार के हर तत्त्व में उस परम 'तू' को स्वीकार कर लिया। जहाँ है, वहाँ 'तू' है। जो है, वह 'तू' है। जैसा है, वैसा तेरे कारण है। जहाँ सिर्फ 'तू' ही 'तू' रह गया, वहाँ बूँद-बूँद न रही; बूँद सागर में समा गई। फिर वह व्यक्ति न रहा, वह तो ईश्वरमय हो गया।

बूँद मिटे, तो सागर ही घटित होगा। जब तक बूँद अपने आपको सुरक्षित रखना चाहेगी, तब तक विराटता को पाया नहीं जा सकता। पूँछ छूटे, तो ही आजादी की धरती पर कदम रखा जा सकता है।

यदि स्वतंत्रता और संपूर्णता योग की पूर्व दिशा है तो समर्पण और संपूर्णता योग की पश्चिम दिशा है। दोनों ही पूर्ण हैं। मनीषी और विचारवान् लोगों के लिए पहला मार्ग है, जब कि भावनाशील और हृदयवान् लोगों के लिए दूसरा मार्ग है। एक में महावीर का मौन है, दूसरे में मीरा के घुँघरू हैं। एक में शिखर की चढ़ाई है, दूसरे में सागर में डुबकी है।

मार्ग चाहे संकल्प का हो या समर्पण का, उसे समग्र, तो होना ही चाहिए। दुलमुल यकीन से काम नहीं चलेगा। 'ईश्वर प्रणिधानात् वा' ईश्वर की शरण में जाएँ। अपने को खोएँ और उसे पाएँ। जिसने स्वयं को खो दिया, उसने 'राम रतन धन' पा लिया। जो अपने को बचाता है, वह उसे कैसे पा सकता है ?

भक्ति तो प्रेम है, और प्रेम के मार्ग में दूसरे को पाने के लिए अपना सब-कुछ कुर्बान करना पड़ता है।

न हैरान हो देख, मैं क्या देख रहा हूँ।
बंदे तेरी सूरत में, खुदा देख रहा हूँ॥

वह जहाँ भी देखेगा, उसे सिर्फ वही दिखेगा। प्रेम का पथ ही ऐसा है जहाँ व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है और अपने प्रेमी में अपनी समग्रता ढूँढ़ता है। मरने के बाद तो हर कोई अपने आपको परमात्मा पर छोड़ देता है, पर असली भक्त और प्रेमी तो वह है, जो जीवन को भी अपने साध्य-आराध्य के प्रति समर्पित कर देता है। जो अपना 'सर्व' छोड़ता है, वह उसका 'सर्व' पाता है। मीरा ने सब छोड़ा, तो सब पाया। मीरा चली गई, पर मरी नहीं। इतिहास में जितने सम्राट हुए हैं, उन्हें बिसराया जा सकेगा, पर मीरा को जनमानस से कभी नहीं निकाला जा सकेगा। मीरा भक्ति की पर्याय है। मीरा भक्ति की पराकाष्ठा है, भक्त होने का आदर्श है। सब-कुछ न्योछावर करते ही क्रान्ति है। जो बचाता है, वह परमात्मा पर अपना अविश्वास व्यक्त करता है।

जो मीरा रानी थी, वही मीरा दीवानी कहलाई। राजपाट छोड़ा। मकान-महल छोड़े, सुख-वैभव त्यागा और चली गई वृंदावन - मथुरा की गलियों में। नश्वर को जितना त्यागा, अनश्वर उतना ही आत्मसात् हुआ। जो नश्वर के पीछे दौड़ रहे हैं, वे अनश्वर से वंचित रहते हैं। भौतिकता में उलझा हुआ व्यक्ति भगवान को कब पा सका है! लूका ने कहा था, 'उन पादरियों से सावधान रहो, जिन्हें लंबे-लंबे चोगे पहने हुए घूमना भाता है, जिन्हें बाजारों में नमस्कार और सभाओं तथा जीमनवारी में मुख्य स्थान अच्छे लगते हैं। जो दिखावे भर के लिए घंटों प्रार्थना करते हैं, वे कड़ा दंड भोगेंगे।' लूका की यह बात क्या सभी पर लागू नहीं होती ?

दुनिया में दो तरह के भक्त हैं - एक खरबूजे जैसे, और दूसरे संतरे जैसे। हर समय, हर स्थान एवं हर परिस्थिति में समान रूप से भक्ति करने वाले खरबूजे की तरह हैं। बाहर-भीतर से भिन्न रूप वाले और मौके-मौके पर भक्ति का आलाप देने वाले लोग संतरे जैसे हैं। ऐसे लोग भक्ति के तो करीब दिख जाते हैं, पर भगवान् के करीब कभी नहीं हो पाते। इसलिए जब परमात्मा के प्रति समर्पण हो और उसे पाना ही जीवन का लक्ष्य बनता हो, तो हमारी श्रद्धा के मंदिर में सिर्फ परमात्मा की ज्योति ही जगमगानी चाहिए।

श्रद्धा का संबंध तो हृदय से है। यदि हृदय के साथ हम बुद्धि को लाकर बैठाएँगे, तो पहले कदम पर ही मात खा जाएँगे क्योंकि हृदय श्रद्धा देता है और बुद्धि तर्क। श्रद्धा तो खेत में बीज बोने जैसी है। बीजों को बोओगे, उन्हें सींचोगे, तभी तो बालियाँ निकलेंगी। यदि बुद्धि की ही मानते रहे, तो बीज कभी बाली नहीं बन पाएगा। बुद्धि तो तब मानती है, जब उसे प्रमाण मिलता है। श्रद्धा कहती है कि सींचोगे तो फल मिलेगा। यदि फल को देखने के बाद बीज बोने का सपना देखोगे,

तो तुम फल तक कभी न पहुँच पाओगे। मानो तो प्रमाण स्वतः मिलते हैं, न मानो तो कहीं कोई प्रमाण नहीं है।

यदि तर्क पर ही अधिक विश्वास करते हो, तो क्या यह प्रमाण कम है कि तुम्हारे भीतर प्यास है! प्यास ही प्रमाण है। प्यास है तो पानी जरूर होगा। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। यदि पानी न होता, तो प्यास क्यों उठती? यदि भोजन न होता, तो भूख क्यों लगती? यदि भूख है, तो भोजन है। यदि परमात्मा की अभीप्सा है, तो परमात्मा भी होगा। नहीं तो यह अभीप्सा कैसे होती? बुद्धि पहले प्रमाण चाहेगी, फिर अनुभव को आत्मसात् करना चाहेगी, जबकि श्रद्धा पहले अनुभव को अपने में उतरने देगी। वास्तव में जब अनुभव हो गया, तो प्रमाण की तलाश ही समाप्त हो जाती है।

श्रद्धा और प्रेम के मार्ग में अनुभव ही प्रमाण है।

इसलिए जो हार्दिक है, वह परमात्मा के करीब है और जो तार्किक है, वह परमात्मा से दूर है। कारण, परमात्मा को पाने का मार्ग बुद्धि नहीं, हृदय है। हृदय की नौका के सहारे ही उस तक पहुँचा जा सकता है। अगर श्रद्धा सही है, तो वह राख में भी अंगारों को ढूँढ़ लेगी। चाहे परमात्मा हो, चाहे निर्वाणधाम, वहाँ न तर्क काम आते हैं, और न शब्द तथा स्वर। तर्क-वितर्क और सारे स्वर-व्यंजन वहाँ से वापस लौट आते हैं। वहाँ तो काम आती है सिर्फ उसकी स्मृति। कबीर और आनंदघन के शब्दों में उसकी 'सुरति', 'वहाँ' की याद।

यदि हर चीज में परमात्मा को देखने की दृष्टि प्राप्त हो जाए, तो किसी काबा या कैलास-यात्रा की जरूरत न होगी। परमात्मा की मूरत तो तुम्हें तुम्हारे इर्द-गिर्द मिल जाएगी। पत्ती-पत्ती पर वेद और आगम लिखे दिखाई देंगे। पक्षियों की आवाज में भी ऋचाएँ सुनाई देंगी। फिर झरनों का कलरव कोरा कलरव नहीं रहेगा। कुरान की आयतें उनमें भी ध्वनित होती लगेंगी। जीवन में भी वह उसी को ढूँढ़ेगा और मृत्यु में भी वह उसी को देखेगा।

औरंगजेब ने एक सूफी फकीर को मौत का फतवा सुनाया था। वह फकीर था मोहम्मद सैय्यद। सूली की सीढ़ियों पर चढ़ते वक्त सैय्यद ने कहा – 'तू किसी भी शक्ल में क्यों न आए, तू मुझे छल न सकेगा। मेरे दोस्त! अब तक तू जीवन के रूप में आया, आज तू सूली की शक्ल में आया है। मैं सूली में भी तुम्हें ही देख रहा हूँ। इसलिए यह सूली मेरा अहोभाग्य है, क्योंकि तुमसे मिलने में अब तक जो सबसे बड़ी बाधा थी इस देह की, वह बाधा गिर जाएगी और मिलन शाश्वत हो जाएगा।'

सारे जहाँ में परमात्मा को देखने का अर्थ यही है कि सर्वत्र परमात्मा की प्रतीति हो, चाहे वह सूली ही क्यों न हो? जब परमात्मा भक्त की दृष्टि बन जाते हैं,

तभी शाश्वत मिलन की संभावना मुखर होती है।

क्या हम चारों ओर परमात्मा को देख रहे हैं? हमें तो पड़ी है अपने स्वार्थ की। यदि चारों ओर हम परमात्मा ही परमात्मा को देखें, तो हमारे जीवन में पाप की रत्ती भर भी धूल दिखाई न देगी। जीवन का हर कृत्य पुण्य कृत्य ही हो जाएगा। फिर हम परमात्मा को ढूँढ़ेंगे नहीं, बल्कि हमारे हर कृत्य में वह परमात्मा ही व्यक्त होगा। परमात्मा ही हमारे जीवन की धड़कन बन जाएगा। श्वास-प्रश्वास में उसी का विहार होगा। फिर बाजार की सैर भी मंदिर की परिक्रमा बन जाएगी।

परमात्मा तो हर जगह है। वह मुझमें भी है, मंदिर में भी है, बाजार में भी है। अभी तो हम उसको भोग लगाते हैं। उसके नाम पर प्रसाद लेते हैं, लेकिन उसकी प्रतिध्वनि बनने के बाद भोजन ही भोग होगा और वही उसका प्रसाद बन जाएगा। उस व्यक्ति के व्यवसाय को व्यवसाय नहीं कहा जा सकता, जो ग्राहक में भी भगवान देखता है। परमात्मा के असली दर्शन तो तब होते हैं जब भक्त रावण में भी राम को निहारता है, शत्रु में भी मैत्री के प्रयत्न करता है। कबीर को देखो। ग्राहक में भी राम के दर्शन! कबीर जब चादर बुनते, तो हर तार में राम का स्मरण समाया रहता। विनोबा जब झाड़ू/बुहारी लगाते, तो जितनी बार बुहारी चलती, उतनी बार माला का मणिया पूरा होता। संत गोरा जब माटी के घड़े बनाते, तो घड़े पर लगाई जाने वाली हर थाप पर भगवत् नाम का जप चलता। रैदास जूतों की सिलाई करते, तो हर सुई-सिलाई के साथ प्रभु का स्मरण कर लेते। 'प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।' रैदास इस तरह भक्ति कर लेते। प्रभु को न तो तुम्हारे नैवेद्य चाहिए और न फल-मिठाई। ये सब तो वह तुम्हें दे रहा है। उसे तो चाहिए केवल तुम्हारा समर्पण, तुम्हारी सुरति और हृदय में बसी रहे उसकी स्मृति।

मंदिरों में कैसेट चलाने से भगवान की भक्ति थोड़े ही होती है। कैसेटों के गीत तो मनोरंजन भर होते हैं। पुकार तो हृदय से उठनी चाहिए। हृदयेश्वर तो केवल हृदय की प्रार्थना सुनता है।

भक्ति तो सभी करते हैं, पर हम जरा ईमानदारी से उसकी कसौटी करें। हम प्रार्थना कर रहे हैं या प्रार्थना के नाम पर ईश्वर से शिकायत। हम भगवान को इसलिए याद करते हैं, क्योंकि हमें बेटा चाहिए, बम्बई चाहिए, बासमती चावल चाहिए। हम या तो दुखी हैं इसलिए प्रार्थना करते हैं, या फिर दिवाला न निकल जाए, इस डर से उसके नाम पर दो स्तोत्र पढ़ लेते हैं। लगता है, लोगों को वास्तव में परमात्मा की जरूरत ही नहीं है। सबकी परमात्म-स्तुति तो शिकवा-शिकायतों को दूर करने के स्वार्थ से भरी हुई है। लोग दस मिनट मंदिर में लगाते हैं और बाकी का सारा समय दुनियादारी में।

मंदिर तो सिर्फ प्रभु की स्मृति को ताजा करने के लिए है – पेड़ पौधों को सुबह-सुबह पानी देने जैसा। परमात्मा को देखो दुनियादारी में भी, क्योंकि वह हमें वहाँ भी देख रहा है। हम न देखें, यह हमारी कमजोरी है। वह हमें हमारे हर रूप में देख रहा है। तुम प्रेम कर रहे हो, तो वह तुम्हारे प्रेम को देख रहा है। क्रोध कर रहे हो, तो वह तुम्हारे क्रोध का भी द्रष्टा है। तुम्हारी बदी का भी वह साक्षी है और तुम्हारी नेकी का भी। वह तुम्हें तुम्हारे बाथरूम में भी देख रहा है और तुम्हें तुम्हारे श्रृंगार रूम में भी। वह हर स्थिति का साक्षी है, इस बात का बोध रखें।

परमात्मा लोगों की आवश्यकता नहीं बना है अभी तक। यदि तुम्हें कोई पूछे कि तुम्हारी आवश्यकताएँ कौन-कौन सी हैं, तो तुम सबसे पहले कार या मकान को बताओगे। शायद परमात्मा तो आवश्यकताओं की कतार में सबसे अंत में आएँगे।

परमात्मप्राप्ति की संभावना तो तब की जा सकती है, जब जीवन की आवश्यकताओं में पहली आवश्यकता परमात्मा ही बने। दुःख में तो उसे सभी याद करते हैं। दिवाले के भय से भी उसका स्मरण कर लेते हैं, किंतु जो व्यक्ति सुख में भी और सम्राट होकर भी उसे याद करता है, उसके जीवन में किसी तरह की फरियाद हो ही नहीं सकती।

भक्ति प्रेम है। परमात्मा के साथ परम प्रेम से जुड़ो। दुःख/दिवाले की गलत मनोदशा में उसे खोजना उसकी प्राप्ति का मार्ग नहीं है। लोग सुख में तो उसे भूल जाते हैं और दुःख में उसे याद करते हैं। जिसकी पहुँच से तुम धनवान/सम्राट बने, उसे वास्तव में याद तो तभी करना चाहिए। वह हमें सम्राट बनाना चाहता है। उसे भिखमंगी प्रार्थनाएँ मत करो। वह हमें बहुत दे रहा है। हमारी पात्रता से ज्यादा हमें मिल रहा है। जो मिला है, उसके लिए कृतज्ञता ज्ञापित करो। प्रार्थना का यही मर्म और यही उद्देश्य है। सर्वत्र परमात्मा की प्रतीति करो। श्वासों में उसी के प्राण पाओ और उसी के नाम पर स्वयं को समर्पित कर दो।

अगर परमात्मा से कुछ माँगना ही है, तो उससे उसके दिव्य प्रेम की एक किरण माँगो। उसके दिव्य ज्ञान की रोशनी की प्रार्थना करो। उसकी करुणा और छत्रछाया चाहो। परमात्मा का स्मरण इसलिए हो ताकि जीवन के हर कदम पर हमारा नैतिक बल हमारे पास बना हुआ रहे। कसौटी के क्षणों में हम फिसल न जाएँ, इसीलिए प्रभु-कृपा हम चाहते हैं। जीवन में भय के भी क्षण आते हैं और प्रलोभन के भी। दोनों ही स्थितियों में हमारा आत्मविश्वास बरकरार रहे, इसीलिए हम भगवान की याद बनाए रखते हैं।

हमारी हर सुबह की प्रार्थना हो, 'हे प्रभु! मुझ पर रहम कर। मेरे गुनाहों को माफ कर। मेरे हितैषियों का भला कर और मेरे शत्रुओं को क्षमा कर। मेरी ओर से

सदा नेक काम हो, यह सन्मति हमें प्रदान कर। जीवन में चाहे जैसा संघर्ष करना पड़े, पर तू मुझे उस संघर्ष से पार लगने का विश्वास और पुरुषार्थ प्रदान कर।’

हमारी यह सद्भावना, यह शरणागति ही तो ‘ईश्वर प्रणिधानात् वा’ सूत्र को जीवन में चरितार्थ करती है। हम जो कुछ भी कार्य करें, उसे परमात्मा के चरणों में अपनी ओर से समर्पित किया जाने वाला अर्घ्य समझकर करें। ईश्वर को याद कर पूरे मनोयोग से उस काम को पूरा करना किसी भी कार्य को सर्वश्रेष्ठ बनाने का तरीका है। ‘वर्क इज वर्शिप’ – कार्य को ऐसे करो, मानो भावपूर्वक प्रार्थना कर रहे हो।

हर सुबह शांति से ध्यान के लिए बैठो। पंद्रह मिनट ही सही, पर मौनपूर्वक अपने मन-मस्तिष्क में शांति का ध्यान करते हुए, परमपिता परमेश्वर से अपनी मानसिक लौ लगाओ। यह अतीन्द्रिय ध्यान हुआ। इससे हमारा मानसिक तमस् दूर होगा। मन को अतिरिक्त ऊर्जा और विश्वास अर्जित होगा। मदर टेरेसा रोगियों के लिए अपनी मानसिक प्रार्थनाएँ करती थी। प्रार्थना की अपनी शक्ति है। अपने मन को प्रार्थना बनाएँ और प्रार्थना को प्रभु से जोड़ें। यह समर्पण भी हुआ और संकल्प शक्ति का, मानसिक शक्ति का वर्धन भी। प्रार्थना को मैं अपनी शक्ति मानता हूँ। जिसने भी अपनी मानसिक शक्ति के साथ प्रार्थना को जोड़ा है, उसे आश्चर्यजनक लाभ हुआ है।

प्रार्थना में माँगने की कुछ जरूरत नहीं है। बस, मन को शांत करो और अपनी चेतना को ब्रह्मचेतना के साथ एकाकार होने दो। आधा घंटा का किया गया यह ध्यान और प्रार्थना अपने आप में जीवन का सर्वोत्तम योग है। अगर प्रभु से माँगना ही है तो वह माँगो, जिसे माँगने के लिए कभी लुकमान ने अपने पुत्र से कहा था।

कहते हैं : प्रसिद्ध हकीम लुकमान से उसके पुत्र ने पूछा कि मालिक कभी वरदान दें, तो मैं क्या माँगूँ? लुकमान ने कहा – “परमार्थ धन, पसीने की कमाई, उदारता, लज्जा और अच्छा स्वभाव। ये पाँच मिल जाने के बाद तुम्हें छठे की जरूरत ही नहीं है।”

सबको अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार मिल रहा है। इसीलिए माँगना नहीं, केवल शुक्रिया/कृतज्ञता/आनंद-भाव अदा करना है। फिर भी कभी कुछ माँगने के भाव आ जाएँ, तो लुकमान की बात को दोहरा सकते हैं। एक नैतिक, पवित्र, स्वस्थ जीवन जीना ही वास्तव में परमपिता परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा है।



परमेश्वर हमारे पास

हृदय से उठने वाली प्रार्थना की लौ ही,
लौ से लौ लगाती है।



ईश्वर मानवजाति की एक अंतर-पुकार है। ईश्वर के बारे में बहुत-कुछ सोचा गया है। कड़्यों ने उसे नकारा भी है, तो बहुतों ने उसे स्वीकारा भी है। ईश्वर प्रश्नों-का-प्रश्न है, तो उत्तरों-का-उत्तर भी। जगत् में फैलने वाली बुराइयों के कारण लोगों ने ईश्वर को केवल कपोल-कल्पना कहा है, किंतु जोग-संजोग पर टिके जीवन को देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि शायद वह हो। ईश्वर कहाँ है और उसका स्वरूप क्या है – यह तो एक चिरंतन प्रश्न है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रश्न भी बहुआयामी हुआ है।

मुझे ईश्वर से प्रेम है। प्रेम ही वास्तव में ईश्वर है। हमें सभी से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि प्रेम अमृत है। जिससे प्रेम करते हो, उसकी माँस-मज्जा तो एक दिन धूल में मिल जाएगी, किंतु प्रेम तो मृत्यु के बाद भी रहता है। प्रेम की मृत्यु नहीं हुआ करती। प्रेम तो सनातन जीवन है। यह हमेशा रहता है। सबसे प्यार करना ही ईश्वर की आराधना है। ऐसा लगता है कि प्रेम ही ईश्वर है।

ईश्वर हममें है, सबमें है। हर व्यक्ति में छिपा हुआ है ईश्वर। वास्तव में जीवन ही ईश्वर है। हमसे हटकर ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। ऐसा नहीं है कि वह किसी शानदार सोनैया महल/दुर्ग में रहता हो। वह हमारे पास रहता है, हमारे साथ रहता है। हमारे साथ उसकी गहरी एकात्मकता है। प्राणिमात्र में निहित सत्य वास्तव में ईश्वरीय सत्य ही है। इसलिए जो प्राणियों से प्रेम करता है, वह वास्तव में उसके प्राणेश्वर से ही प्रेम कर रहा है।

एक व्यक्ति तो वह है जो सुबह उठकर परमेश्वर की प्रार्थना करता है और एक वह है जो लोगों से प्यार करता है, प्राणपण से उनकी सेवा करता है। दोनों ही

परमेश्वर के प्रार्थी हैं। दोनों की प्रार्थना सफल व सही कही जाएगी।

वह सेवा प्रार्थना नहीं बना करती जिसमें इंसान सेवा के बदले में कुछ पाने की लालसा रखता है। एक डॉक्टर और वैद्य की सेवा प्रार्थना कहलाई जानी चाहिए, किंतु उस सेवा को प्रार्थना कैसे कहा जाए, जो सेवा के नाम पर व्यवसाय करती है। उस पुजारी की प्रार्थना भी प्रार्थना नहीं है, जो हजार-पाँच सौ रुपए मासिक वेतन पाने के लिए पूजा-पाठ कर रहा है।

प्रार्थना तो जीवन का आंतरिक भाव है। ईश्वर हमारा व्यक्तिगत विश्वास है। इसलिए वह निजी है। उसकी सर्वव्यापकता हमारे अपने में है। क्लेश, कर्म, विपाक और कर्म-संस्कार से उसका कोई संबंध नहीं है। ईश्वर आनंद है, वह आनंद की राशि है और हमें आनंद की अभीप्सा है।

सुख में तो उसे मानते ही हो, पर दुःख के कारण उसे इनकार क्यों करते हो ? यदि सुख उसका है, तो दुःख भी उसका है। पर मैं यह कहूँगा कि न दुःख उसके कारण है और न सुख। सुख और दुःख तो मन की छाया-प्रतिछाया हैं, ध्वनि-प्रतिध्वनि हैं। परमात्म-स्वभाव तो सुख और दुःख दोनों के पार है। उसका स्वभाव तो आनंद है। आनंद का क्या, एक फकीर भी आनंदित रह सकता है। यह तो अंतर्दशा है। उस परमात्मा से प्रेम करने का परिणाम है।

एक प्यारे संत हुए हैं – बोन हायफर। इनके बारे में कहा जाता है कि किसी सम्राट् ने उन्हें कैद में डलवा दिया। सम्राट् की इस हरकत पर हायफर ने कहा था, तुम मुझे कैदखाने में डलवा सकते हो, पर मेरी प्रार्थना को नहीं। मेरी प्रार्थना उतनी ही स्वतंत्र है, जितनी बाहर थी। मैं परमात्मा को जितने आनंद से बाहर पुकारता था, उतने ही भीतर से भी पुकारता हूँ। मेरी प्रार्थना को तुम कैद कर सको, दुनिया में ऐसा कोई कारागृह नहीं है।

प्रार्थना तो तुम्हारे मन का भाव है। अहोभाव ही प्रार्थना है। उसके नाम पर होने वाली पुलक ही प्रार्थना है। प्रार्थना शब्द नहीं, अंतर्दशा है, भावदशा है।

जिस सुख-दुःख को लेकर लोग परमात्मा को मंजूर-नामंजूर करते हैं, वह गलत है। परमात्मा इनका दोषी नहीं है। सुख और दुःख, स्वतंत्र और परतंत्र, जीवन और मरण – ये सब तो संसार की एक व्यवस्था है। यदि संसार से दीनता चली गई तो इंसान की करुणा और प्रेम-भावना सूख जाएगी। यदि सब बराबर भी हो गए, तब भी तुम प्रसन्न न रहोगे। तुम्हारा सुख, तुम्हारी आवश्यकताओं की पूर्ति में नहीं है, वरन् दूसरों को स्वयं से पछाड़ने में है, पड़ोसी से खुद को आगे बढ़ाने में है।

साम्यवाद की स्थापना मन की तृष्णा का उन्मूलन नहीं कर सकती।

ईश्वर हम लोगों से प्यार करता है और वह चाहता भी है कि हम सब से प्यार करें। जब तक झरना बहता रहेगा, वह निर्झर कहलाएगा और रुक जाने पर वह चार-

दीवारी की तलैया बन जाएगी। जो सबसे प्यार करता है, वह सर्वेश्वर से प्यार करता है। जो सबकी सेवा करता है, वह सभी के नाम से परमेश्वर की सेवा करता है। प्यार और सेवा ही वास्तव में प्रार्थना है। यदि किसी व्यक्ति ने मंदिर में जाकर परमात्मा की प्रार्थना की और मंदिर से बाहर निकलते समय किसी भूखे-प्यासे इन्सान को देखकर उसकी सार-सँभाल न ली, तो उसकी प्रार्थना पूरी नहीं कहलाएगी। प्रार्थना पूरी हो। अधूरी प्रार्थना काम नहीं देगी।

कहते हैं, प्रभु का एक भक्त ठिठुरती रात में घर से बाहर निकला। उसने घर से दस-बीस कदम ही आगे बढ़ाए होंगे कि उसे एक भिखारी मिला, जिसके शरीर पर कोई कपड़ा न था। भिखारी गिड़गिड़ाया। उसने कहा, मैं ठंड के मारे ठिठुर रहा हूँ। भगवान के नाम पर क्या तुम मुझे कोई कपड़ा दोगे, जिसे मैं इस शरीर को ढककर कड़ी ठण्ड से अपना बचाव कर सकूँ।

भक्त ने एक शॉल ओढ़ा हुआ था। उसने दिल में सोचा, इस शॉल के दो भाग हो सकते हैं। एक भाग मैं इस गरीब को दे देता हूँ और दूसरा भाग मुझे ठंड से बचाने के लिए काफी है।

भक्त ने यह सोचकर शॉल के दो टुकड़े कर डाले। एक भाग गरीब को ओढ़ा दिया और दूसरा खुद ओढ़ लिया।

उसी रात उसने एक सपना देखा, जिसमें अपने भगवान को आधा शॉल ओढ़े हुए पाया। हैरान होकर उसने पूछा, मालिक! यह क्या, आपने केवल आधा शॉल ओढ़ रखा है? भगवान ने बताया, तुमने मुझे इतना ही तो दिया था।

यह मत सोचो कि परमेश्वर कहीं कोई एक ही स्थान पर रहता होगा – मंदिर, मस्जिद, गिरजे और गुरुद्वारे में ही रहता होगा। वह उसमें भी है जिसे लोग क्षुद्र समझ लेते हैं। जरा देखो, वह ईश्वर उस विकलांग के चेहरे पर मुस्कराता हुआ दिखाई देगा और तुम हो ऐसे, जो उसकी तरफ नजर भी नहीं डाल रहे हो। साँई की पहचान करना और साँई से लगान लगाना बड़ी कठिन साधना है।

किसी व्यक्ति ने साँई को अपने घर आने के लिए निमंत्रण दिया, मित्रतें भी कीं। आखिर साँई ने आने का वादा किया। उस व्यक्ति ने बड़ा अच्छा भोजन बनाया, लेकिन दिन ढलने तक भी उसे साँई आता दिखाई न दिया। शाम के वक्त कोई भिखारी उसके द्वार पहुँचा। उसने रोटी चाही, किंतु मकान मालिक ने उसे धक्के देकर बाहर निकाल दिया। भिखारी ने कहा, 'तुम्हारे घर में काफी भोजन है। उसमें से थोड़ा मुझे दे दो।' उस व्यक्ति ने कहा, 'जो भोजन है, वह साँई के लिए है, तुम जैसे भिखमंगों के लिए नहीं।'

अगले दिन उस व्यक्ति ने साँई को उपालंभ दिया, मंजूरी देकर भी न आने के लिए। साँई ने कहा, 'भैया मैं तो आया था, लेकिन तुमने मुझे धक्के देकर बाहर

निकाल दिया था।' आदमी चौंका, उसने कहा, 'कल शाम को तो एक भिखारी आया था।' साँई बोले, 'जिसे तुमने भिखारी समझा, वह वास्तव में मैं साँई ही था।'

आदमी ने क्षमा माँगी यह कहकर कि मैं आपको पहचान न पाया। कृपया आज जरूर आँ। आज तो मैं आपको पहचान ही लूँगा, चाहे आप जिस रूप में भी आँ।

आदमी को आज भी साँई आते हुए दिखाई न दिए। आज तो घर के बाहर कोई भिखारी भी न आया, वरना पहचानने में कोई चूक न होती। वह तो साँई की बाट जोह रहा था। इतने में ही देखा कि घर के पिछवाड़े से कोई कुत्ता भीतर घुस आया और लगा भोजन में मुँह मारने। आदमी को यह देखकर बड़ा गुस्सा आया। वह चिल्लाने लगा, 'इस कुत्ते ने तो सारा भोजन ही अपवित्र कर दिया।' यह कहते हुए उसने कुत्ते की पीठ पर दो डंडे मारे। कुत्ता दर्द से कराहता हुआ घर से बाहर भाग गया। दूसरे दिन जब वह व्यक्ति साँई को उपालंभ देने फिर गया, तो देखा कि साँई सोए हैं। उनकी पीठ पर लड्डू की मार के दो गहरे निशान हैं। कोई शिष्य उनकी कमर पर दवा मल रहा है। साँई ने उसे देखते ही कहा, 'कुछ तो धीरे मारते भाई।'

साँई को तुम पहचान नहीं पा रहे हो। कैसे बताया जाए कि उसका क्या स्वरूप है! वह तो हर स्वरूप में है। आह में भी वह है और वाह में भी वह है। जरूरत है उसे समझने की। गुलाम में भी वह है और मालिक में भी। लोग फिजूल पड़े हैं काले और गोरे के भेद में। अंग्रेजों में भी वह है और अप्रीकन में भी। ऐसा नहीं है कि काले लोगों में वह नहीं है। ऐसा नहीं है कि काले लोगों का ईश्वर काला है और गोरों का गोरा। श्वेत और अश्वेत का भेद तो कपड़े के रंग-भेद जैसा है। दिल तो दोनों के पास है। उस दिन धरती पर ही स्वर्ग उतर आएगा, जिस दिन श्वेत लोग अश्वेत लोगों में भी उसी को निहारेंगे, जिसे वे अभी अपने में निहार रहे हैं। ईश्वर रंगों में नहीं है। वह रंगों से पार है। रंग तो राग है। ईश्वर राग के पार है, वह वीतराग है, वीतद्वेष भी।

ईश्वर तो हमारी भीतर की माँग है। वह हमारी आत्मा की धारणा है। उसकी कोई भौतिक तस्वीर नहीं बनाई जा सकती। यह भी कैसा व्यंग्य है कि हम अपने बनाए हुए ईश्वर के सामने खड़े होकर प्रार्थना कर रहे हैं, जबकि हमें उसने बनाया है। मात्र वाक्पटु प्रार्थनाओं से कुछ न होगा। ऊँच-नीच, गोरे-काले, गरीब-अमीर के भेद तो मानव-मन की क्षुद्रताएँ हैं। वह सब में है। सबके साथ है। उसे हमें सब में निहारना भी चाहिए। उसे मानो, तब भी वह हमारे साथ है और न मानो, तब भी वह हमसे अलग नहीं है।

ईश्वर जीवित है – अगर तुम जीवित हो तो।

एक यहूदी के बारे में अद्भुत घटना है। एक यहूदी बंदी था। उसे शौचालय

साफ करने का काम सौंपा गया। अंतर्जीवन की दृष्टि से वह बहुत पहुँचा हुआ था। उसे ईश्वर पर बड़ा भरोसा था। वह हमेशा यही कहा करता – ईश्वर हमारे साथ है, हमारे पास है। उसके नाजी गॉड ने उससे व्यंग्य में पूछा, ‘अब तुम्हारा ईश्वर कहाँ है?’ यहूदी ने हँसती हुई आँखों से उसे देखा और धीरे से कहा, ‘वह यहाँ है। मेरे साथ गंदगी में...।’

ईश्वर तो वहाँ है, जहाँ तुम हो। उसके लिए तो कोई भी स्थान गंदा नहीं है। अगरबत्ती को जहाँ जलाओगे, वह वहीं अपनी महक देने लगेगी। दीया चाहे माटी का हो या सोने का, ज्योति तो दोनों में ही जगमगा सकती है। जो श्रद्धा की आँखों से जीवित ज्योति को पहचानने की कोशिश करता है, वही ईश्वर का सच्चा पुजारी है।

क्या आपने नहीं सुन रखा है – ‘मोको कहाँ ढूँढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में।’ ईश्वर की संपदा तो बहुत पास है, सबसे पास, अपने आप से भी पास। स्वयं के जितने करीब पहुँचोगे, उसकी निकटता का अहसास उतना ही अधिक होगा।

ईश्वर को खोजा नहीं जाता। खोजने से वह कभी मिलता भी नहीं है।

खोजा तो उसे जाता है, जो कहीं खो गया हो। ईश्वर कोई सुई थोड़े ही है, जो घास के कचरे में गिर गई हो और जिसे ढूँढ़ने के लिए किसी रोशनी की जरूरत हो। वह तो है, सदा से है। जो अपने साथ-साथ चल रहा है, उसे खोजने की बात भी बड़ी अटपटी है। आँखें उसे देख नहीं पातीं और वह बसा हुआ है आँखों-आँखों में।

परमात्मा हमारा स्वभावसिद्ध अधिकार है। वह हमारे जीवन की हर संभावना का साथ सदा से दे रहा है। धनवान धन के सपने नहीं देखता। धन तो उसके पास है। धन के सपने तो वह व्यक्ति देखता है, जिसके पास धन नहीं है। धन उससे बिछुड़ गया, तो उसे धन की याद आ रही है। हमारा परमात्मा हमसे बिछुड़ा नहीं है, इसलिए उसकी स्मृति नहीं आती। स्मृति हमेशा वियोग होने पर आती है। परमात्मा का हमसे वियोग नहीं हुआ। मछली पानी में रहे, तो पानी की याद नहीं आती। मछली को पानी की याद सर्वप्रथम तब आती है, जब उसे कोई पानी से बाहर निकालता है। पानी की याद उतनी सघन हो जाती है कि वह बिना पानी के तड़फने लगती है। हम परमात्मा से अलग नहीं किए जा सकते, क्योंकि परमात्मा हमारा स्वभाव है। काल उसको बाधित नहीं कर सकता। इस जीवन से पहले भी वह हममें था। हमसे पहले भी जो लोग हो चुके हैं, हमारे पूर्वजों के साथ भी वह था। इसीलिए तो पतंजलि ने उसे गुरुओं का गुरु और काल-मुक्त माना है – ‘पूर्वेषाम् अपि गुरुः कालेन अनवच्छेदात्।’

वास्तव में परमात्मा को न पाना है, और न खोजना। जो पाया हुआ है, सिर्फ उसे पहचानना है। जिसे यह समझ आ गई। उसने पहचान लिया कि ईश्वर क्या है,

कैसा है और कहाँ है ?

ईश्वर क्या है ? यह प्रश्न एक नास्तिक ने एक आस्तिक से पूछा। एक आस्तिक मंदिर पूजा करने जा रहा था कि उसका एक दोस्त, जो नास्तिक व शंकालु था, मिला और पूछा, 'कहाँ जा रहे हो ?' आस्तिक ने उत्तर दिया, 'मंदिर जा रहा हूँ।' उसने पूछा, 'किसलिए ?' जवाब मिला, 'भगवान की पूजा करने।' उसने पुनः पूछा, 'अच्छा ! तो बताओ, भगवान कौन है ? वह बड़ा है या छोटा ?'

आस्तिक ने श्रद्धापूर्वक उत्तर दिया, 'भगवान इतना बड़ा है कि कितने स्वर्गों के स्वर्ग उसे अपने में समा नहीं पाते और फिर भी भगवान इतना छोटा है कि मेरे नन्हे से हृदय में वह समाया हुआ है।'

परमात्मा अपने में है, इसलिए अपने में होना ही परमात्मा में होना है। जो परमात्मा में तन्मय है, वह सुख-दुःख में नहीं, आनंद में है। प्रार्थना ही उसके लिए साधना बन जाती है।

घंटे के नीचे मंदिर में,
खड़ी बालिका प्रभु के सम्मुख।
तन्मयता से भाव-लीन हो,
भूल गई ज्यों अपना सुख-दुःख।
दिखती मानो मूर्त्त साधना,
करती है जब मूक प्रार्थना ॥

संसार के हर कोने में ईश्वर के लिए प्रार्थनाएँ होती हैं। चाहे किसी धर्म-विशेष ने अनीश्वरवाद को प्ररूपित किया हो, किंतु उसके धर्म-प्रवर्तक भी उनके अनुयायियों के द्वारा परमेश्वर के रूप में ही पूजे जाते हैं। कौन उसे किस नाम से पुकारता है ? नाम तो सिर्फ भाषाई संज्ञा है। चाहे जिस नाम से पुकारो, आखिर व्यक्ति उसी को पुकार रहा है जो उसकी पुकार को सुन सकता है। हर नाम में है वह अनाम। स्वार्थ को छोड़ो और धरती के बीच में आओ। वह तुमसे लेकर सारे जहाँ में फैला है। ईश्वर हमारे पास है, सबके पास है। यदि ईश्वर की सही प्रार्थना करना चाहते हो, तो सर्वेश्वर की पहचान ही काफी है। आँखें खोलो। जागना ही उसे पहचानना है।

ज्यों तिल मांही तेल है, चकमक मांही आग।

तेरा साँई तुज्झ में, जाग सके तो जाग ॥

जागो और निहारो – तुम्हारे ही पास है तुम्हारा साँई। भगवत्ता चारों ओर फैली हुई है। उसे पहचानो, अपने-आपको पहचानने के लिए।

ध्यान रखो, ईश्वर को तुम जितना पुकारोगे, तुम उससे उतने ही दूर रहोगे। तुम ईश्वर को अपने में जितना अनुभव करोगे, ईश्वर की दिव्य ज्योति को तुम उतना ही करीब पाओगे। प्रार्थना में शब्द बोले जाते हैं और शब्द उच्चारित होने पर हवा में

घुल-मिल जाते हैं। शब्द से ज्यादा ताकतवर तुम्हारी चेतना है, तुम्हारा अस्तित्व है। तुम अपने अस्तित्व में विश्राम लो और अनंत आकाश की ओर ध्यान धरते हुए ईश्वरीय विराटता की ओर जुड़ते जाओ। जब तुम पुनः स्वयं में लौटने लगोगे, तो तुम पाओगे कि ब्रह्मांड का सारा अस्तित्व ही तुममें उतर रहा है। तुम स्वयं में उतनी ही ऊर्जा का अनुभव करोगे, जितनी कि इस ब्रह्मांड में व्याप्त है।

ईश्वर की धारा को स्वयं में लेने के लिए पहले उसके योग्य पात्र होना पड़ता है। तुम अमृत को अपने पात्र में सुरक्षित रख सको, इसके लिए तुम्हारे पात्र में योग्यता चाहिए। तुम अपनी मानसिक ऊर्जा को आकाश से जोड़ो, आकाश की अतींद्रिय ऊर्जा तुमसे जुड़ती चली जाएगी। जब मैं किसी को नमाज अदा करते देखता हूँ, तो मुझे प्रार्थना की वह सबसे बेहतरीन मुद्रा नजर आती है। वज्रासन में बैठकर हाथों की हथेली को आसमान की ओर उठाते हुए जो लौ से लौ लगाई जाती है, वह अपने आप में प्रार्थना का एक जीवंत स्वरूप है। प्रार्थना की शक्ति को जन्म देने के लिए व्यक्ति का हृदयवान होना जरूरी है। हृदय से उठने वाली प्रार्थना की लौ ही, लौ से लौ लगाती है।

ईश्वरीय चेतना से जुड़ने का सबसे बेहतरीन तरीका यही है कि तुम हृदय में विश्राम लेते हुए आकाश की ऊर्जा से जुड़ो। तुम जगत् के दुःखों को हृदय में पी लो और हृदय की शुभकामनाएँ जगत् की ओर लौटा दो। तुमने हृदय में जगत् का जो जहर पीया है, हृदय रूपांतरण का केंद्र है, वह जहर को बदल देता है। जब तुम अपने हृदय से सबके प्रति शुभकामनाएँ लौटाते हो, तो वही अमृत बनकर जगत् का कल्याण करता है।

जब ईश्वर के ध्यान में बैठो, तो अपने में उसका अनुभव करो। जब जगत् से रूबरू होओ, तब जगत् में उस जगदीश्वर को निहारो। भीतर भी वह, बाहर भी वह। शुभ में भी वह, अशुभ में भी वह। गरीबी में भी वह और अमीरी में भी वह। 'सोहम्'...मैं वह ही हूँ। 'तत्त्वमसि' – तू वह ही है। जगत् एक खेल है, एक व्यवस्था है, एक योगानुयोग है, एक संतुलन है, जिसका नियामक 'वह' है। कोई पुरुषार्थशील व्यक्ति कहेगा, मेरी व्यवस्थाओं का नियामक मैं हूँ। यह 'मैं' वास्तव में उसी का ही स्वर है। प्राणीमात्र में जो जीवन की ज्योति जल रही है, वह उस ज्योतिर्मय का परिणाम है। आत्मा में ही ईश्वर का अंश है। अंतरात्मा की आवाज से जीना ही धर्म है। स्वयं को जगत् की इहलीला में मूर्च्छित न होने देना ही मुक्ति है। यही है सार धर्म, मुक्ति और ईश्वरीय पथ का।



एक ओंकार सत नाम

जिसके श्वासोच्छ्वास में ॐ का वास है,
वह स्वयं योग रूप है।



तस्य वाचकः प्रणवः' – 'प्रणव' ईश्वर का वाचक है। प्रणव का अर्थ है ॐ। ॐ सृष्टि का जनक और प्रथम स्वर है। ॐ में आदि पराशक्ति की किरण और योगियों की योगमाया है। सृष्टि के समस्त शास्त्रों की धुरी ॐ है। समस्त व्रतों, धर्मों और आश्रमों का सार है ॐ। एक ॐ कहते ही अनंत ब्रह्मांड में व्याप्त समस्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त चेतनाओं का आह्वान हो जाता है। जिसके श्वासोच्छ्वास में ॐ का वास है, यह स्वयं योग रूप है।

ॐ ध्वनि-विज्ञान की पराध्वनि है। ब्रह्मांड का संपूर्ण संकोच और विस्तार उसी की ध्वनि से ही संपादित हुआ है। संत-मनीषी लोग ध्वनि को ही विश्व की प्रथम अस्मिता मानते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार संसार की मूल ऊर्जा विद्युत् रही है, किंतु ऋषि-महर्षियों ने ध्वनि को मूल ऊर्जा माना है। वैज्ञानिक विद्युत् को पहला चरण मानते हैं और ध्वनि को दूसरा, जबकि मनीषी संतों ने ध्वनि को पहला चरण माना है और विद्युत् को अगला। ध्वनि से ही विद्युत् पैदा होती है।

वैज्ञानिकों और तत्त्व-मनीषियों में ध्वनि और विद्युत् को लेकर थोड़ा-बहुत मतभेद हो सकता है, किंतु दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत हैं कि ये दोनों ऊर्जा के अगुवा चरण हैं। बाइबिल में 'ध्वनि' बनाम 'शब्द' को ही पहले-पहल माना गया है। यीशु कहते हैं – शुरु में 'शब्द' ही था – 'इन द बिगनिंग देयर वाज वर्ड'। 'ओनली दि वर्ड एग्जिस्टेड एंड नथिंग एल्स'। प्रारंभ में सिर्फ शब्द था। शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इसलिए हमारी साधना हमें उस शब्द की ओर ले

जाती है, जो हम सबसे पहले थे। ऐसा समझें कि जिसने शब्द के संपूर्ण अंतरंग को जान लिया, उसने समग्र ज्ञान को आत्मसात् कर लिया।

‘शब्द का अर्थ वह नहीं है जो हम अपने होठों से बोलते हैं। शब्द का संबंध हिंदी और अंग्रेजी के अक्षरों से नहीं है। एक शब्द तो वह होता है जिसका उच्चारण मनुष्य करता है और एक शब्द वह है, जिससे मनुष्य स्वयं उच्चरित हुआ है। शब्द से ही विद्युत् बनी और विद्युत् से ही मनुष्यता के चरण बढ़े। जब मनुष्य वापस अपने शब्द पर लौट आया, तो उसकी मनुष्यता भगवत्ता का रूप अंगीकार कर लेगी।

एक बात तय है कि ध्वनि में ऊर्जा समाई हुई है। यदि ध्वनि की शक्ति का प्रयोग किया जाए, तो हम सर्दी में भी गर्मी का अहसास कर सकते हैं। हिमालय की पहाड़ियों में रहने वाले नंगे बाबा लोग ध्वनि के परा-विज्ञान से परिचित हैं। आम आदमी का तो गर्मियों के मौसम में भी हिमालय में रहना कठिन होता है। वहीं ये संत-योगी लोग भयंकर बर्फीली सर्दी में भी सहज भाव से रहते हैं और वह भी पूरी तरह नग्न। कई संतों ने वस्त्र भी पहन रखे हैं तो वह सिर्फ अंग ढकने जितने ही हैं। निश्चित तौर पर उन्होंने ध्वनि से उच्च ताप पैदा करने की प्रक्रिया का आविष्कार कर लिया है। वे अपने श्वासोच्छ्वास में ही ध्वनि का एक गहनतम मंथन करते हैं। योग-मार्ग में जिस प्राणायाम को अधिक महत्त्व दिया गया है, यदि वह समग्र और प्रखर हो जाए, तो सर्दी के मौसम में भी शरीर से पसीना चूने लगता है। शरीर में भी एक तापमान होता है। श्वास में भी उष्णता होती है। यदि ठिठुरते हुए दोनों हाथों को मिलाकर जोर से मला जाए, तो हाथ में भी गर्माहट आ जाती है। ऐसे ही श्वास को भी तीव्र गति के साथ लिया-छोड़ा जाए, तो शरीर में ऊर्जा की आग पैदा हो जाती है।

तिब्बतियन बौद्ध भिक्षु बर्फीले मौसम में भी शरीर से पसीना निकाल लेते हैं। इसके लिए वे उच्च ध्वनि-उच्चार का प्रयोग करते हैं। उनका एक प्रसिद्ध मंत्र है – ‘ॐ मणि पद्मे हुम्’। वे इसे बड़े जोर से रटते हैं और वह भी बड़े तीव्रगामी वेग के साथ। निश्चित तौर पर ऐसा करने से शरीर में गर्मी पैदा होगी। उष्णता के संपादन का कार्य मंत्र नहीं करता, अपितु शब्द या मंत्र को दोहराने की त्वरा और तीव्रता करती है। मंत्र इतनी तीव्रता पकड़ लेता है, मानो ‘ओवरलेपिंग’ हो। मंत्रोच्चार में संधि अंश भर भी न रहे। ऐसी स्थिति हो जाए, जैसे दो किलोमीटर दौड़ने के बाद होती है। हाँफने लग जाए वह।

एक संत हुए सहजानंदधन। वे योगी थे। सर्दी के मौसम में वे बीकानेर के रेगिस्तानी टीलों पर साधना किया करते थे। अंधकार से भरी रातें, हिमवात-पिटी बालू, शरीर पर मात्र एक लंगोटी और खुला आकाश, ठिठुरती हवाएँ। आम आदमी

तो दो कंबल ओढ़कर भी सहन नहीं कर पाता, किंतु लोगों ने उन्हें तब भी पसीने से तरबतर पाया। उनसे पचास कदम दूर बैठा आदमी भी उनके अंतस्तल में गूँजती हुई ध्वनि को और साँस की तीव्रता का अहसास कर सकता था। यदि एक ही ध्वनि का निरंतर उच्चारण करते चले जाओ, तो ताप ही पैदा होगा।

तानसेन के बारे में हम जानते हैं कि जब वह मल्हार राग छेड़ता था तो जंगल के जानवर उसके पास चले आते थे। आश्चर्य तो यह है कि शेर और हिरण, दोनों एक ही मंच पर आकर उसे सुनने लगते थे। कहते हैं कि तानसेन के दीपक-राग से महल के दीए जल उठते थे। वह ध्वनि की एक सिद्धहस्त पराकाष्ठा है।

अभी हाल ही, मास्को में मनोचिकित्सकों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें गहरी छानबीन के बाद यह निर्णय लिया गया कि कुछ संगीत ऐसे होते हैं जो व्याधि-निरोधक शक्ति पैदा करते हैं। कुछेक विशिष्ट लोकगीत ऐसे भी होते हैं, जो पशुओं के आरोग्य के लिए लाभदायी सिद्ध हो सकते हैं। मानसिक एकलयता प्राप्त करने में भी संगीत कारगर साबित हुआ है। यह एक चमत्कारी बात है कि यदि आप तनाव में हैं, तो मेरी सलाह होगी कि आप उस समय शांत संगीत का श्रवण करें। उससे आपको आश्चर्यजनक लाभ होगा।

जापान का योषिहिकोहिटी भी अपनी तीव्र ध्वनि के लिए काफी चर्चित है। कहा जाता है, जब वह अपने मुँह से आवाज निकालता है, तो तीव्र गति से चलने वाली रेलगाड़ी की आवाज भी उसके सामने मंद पड़ जाती है। लोगों का दावा है कि उसकी आवाज रेलगाड़ी की आवाज से भी पंद्रह गुनी जोर की होती है।

आपने सैनिकों की परेड देखी होगी। सौ सैनिकों के पाँव एक साथ उठते हैं, और एक ही साथ नीचे गिरते हैं। यह जूतों की ध्वनि का अनुशासन है। सौ सैनिकों के पाँवों की एक आवाज तोप के गोले के बराबर कही जाती है।

ध्वनि की उच्चता से तो कानों के पर्दे तक फट सकते हैं तथा आदमी पागल तक हो सकता है; यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है। अमेरिका के कई प्रदेशों में इसीलिए पाँप-संगीत बजाने पर पाबंदी लगा दी गई थी। लोग उसके कैसेट्स सुनने से भी डरने लगे हैं। पाँप सैकड़ों लोगों की मृत्यु का कारण बना है। मोजल्डर्ट के संगीतों में एक संगीत है 'नाइन्थ सिंफोनी'। उस पर भी रोक लगा दी गई है।

वस्तुतः ध्वनि में ऊर्जा की एक विशेष संभावना है। योग-मनीषा के अनुसार तो ध्वनि प्रणव है, और प्रणव ईश्वर का वाचक है। ध्वनि शाब्दिक है, और अशाब्दिक भी।

*सबद सबद बहु अंतरा, सार सबद चित देय।
जो सबदे साहब मिलै, सोई सबद गहि लेय ॥*

‘सबद’ और ‘शब्द’ में बहुत अंतर है। जो शब्द हम उच्चारते हैं, वे तो बोल-चाल के हैं। उन शब्दों से भगवत्ता नहीं मिला करती। जिन्हें हम शब्द कहते हैं, उनसे तो हमें ऊपर उठना होगा। उस पराशब्द का श्रवण तो भीतर की निःशब्द यात्रा से ही संभावित है। वह शब्द अभी भी है। हमारे भीतर उसे सुना जा सकता है। वह शब्द ‘ॐ’ है। ॐ हमारी चेतना के अंतस्तल में केंद्रित है, क्योंकि ॐ परमात्मा का वाचक है और परमात्मा का साम्राज्य हमारे भीतर है। निश्चित तौर पर ॐ भी हमारे भीतर है। इसकी अनुगूँज सुनाई दे सकती है। यह मूल ध्वनि है – न केवल हमारी, वरन् संपूर्ण जगत् की भी। विचारों से जितने शांत बनोगे, उसकी अनुगूँज उतनी ही साफ सुनाई देगी। परम शांति में ही परम अस्तित्व रहता है।

चित्त की परम शांति में शब्द ध्वनित नहीं होते। वहाँ तो हमारा अस्तित्व ही ध्वनित होने लगता है। उस ध्वन्यावस्था का नाम ही ‘ॐ’ है। यह वह क्षण है जब गंगोत्री गंगा में समा जाती है। ‘सुरत समानी सबद में’ – जब हमारी सारी स्मृति इस मूल शब्द में समा जाती है, तो व्यक्ति काल-मुक्त पुरुष हो जाता है। तब अमृत बरसने लगता है। उस समय वीणा नहीं होती, फिर भी संगीत सुनाई देता है।

यह परा-संगीत ही किसी को आगम के रूप में सुनाई दिया, किसी को वेद-उपनिषद् के रूप में, किसी को कुरान, बाइबिल या पिटक के रूप में। यह संगीत हमारी चेतना की मूल ध्वनि है। हर व्यक्ति एक स्वतंत्र चेतना है। इसलिए सबके संगीत अपने-अपने ढंग के होते हैं। हमसे भी ऐसा ही अनूठा-निराला संगीत पैदा हो सकता है, जहाँ बजेगी अनहद की बाँसुरी।

‘अनहद बाजत बाँसुरिया’ – वह वंशी-रव सुनाई देता है, जिसे ‘अनाहत’ कहा गया है। जब जप और अजपा-जप – दोनों के पार चलोगे, तभी अनाहत साकार होगा। अनाहत का अर्थ होता है, जो बिना बजाए बजे। दो होठों से तो हर कोई आवाज निकाल सकता है। खोजो वह स्थान, जहाँ बिना अधरों की भी आवाज होती है। दो हाथों से तो बच्चा भी ताली बजा लेगा। साधना तो उस स्थान को ढूँढना है, जहाँ एक हाथ से ताली बजती है।

वह स्थान आत्म-तीर्थ है। वह अनुगूँज आत्मा की झंकार है। अगर हम विचारों और शब्दों से ही भरे रहें, तो उस परा-झंकार से कोसों दूर रह जाएँगे।

मनुष्य जन्म से मृत्यु तक मात्र शब्दों की ही यात्रा करता है। उसके शब्द ही कभी अहंकार का कारण बन जाते हैं, तो कभी क्रोध के। किसी ने अच्छे शब्द कह दिए, तो तुम मुस्करा उठे और बुरे कह दिए तो अपने को अपमानित महसूस करने लगे। शब्दों ने ही अहंकार को बनाया और शब्दों ने ही क्रोध को। देखा नहीं, आदमी शब्दों के मायाजाल के कितना पीछे पड़ा है! सुबह से शाम तक वह शब्दों

के दायरे में फलता-फिसलता रहता है। आखिर दूसरों के शब्दों से मिलेगा क्या ? सम्मान मिल जाएगा, प्रशस्तियाँ मिल जाएँगी, प्रशंसा मिल जाएगी। मात्र शब्द-व्यवस्था को व्यक्ति ने अपना सम्मान और स्वाभिमान मान लिया है। यह प्रशंसा नहीं, मात्र छलावा है, अपने आपको मात्र शब्दों से ही भरना है।

‘सुधाजी’ कह रही थीं कि मैंने अखबार पढ़ना छोड़ दिया, क्योंकि अखबार पढ़ना तो स्वयं को शब्दों से भरना है।

धन्यवाद ! अंतर्यात्रा तो निःशब्दता से प्रारंभ होती है। लोगों में अखबार पढ़ने की आदत इतनी आम हो गई है कि उन्हें सोने से पहले तो जासूसी उपन्यास चाहिए और सुबह जगकर बैठते ही राजनीति की करतूतों को बताने वाला अखबार चाहिए। क्या हमें जासूसी करनी है या राजनीति के दाव-पेंच लड़ने हैं ?

आश्चर्य तो तब होता है, जब संत-महात्मा और साधु-मुनि लोग भी अखबारों को पढ़ने में रोजाना अपने दो-चार घंटे बरबाद करते हैं। अखबार राजनीति की शतरंज मात्र बन गया है। पता नहीं, उन्होंने निःशब्द और निर्विकल्प होने के लिए संन्यास लिया है या अपने अंतर्जगत् को शब्दवेत्ता और विचारक बनाने के लिए। धर्मशास्त्र पढ़ते, तो बात जँचती भी। मुझे बड़ा ताज्जुब होता है, जब मैं किसी संत-मुनि को महज व्याकरण के सूत्र रटते हुए देखता हूँ। वह मुनि जीवन के दस-बारह साल तो संस्कृत-व्याकरण के सूत्रों को रटने और सीखने में लगा लेता है। अरे भाई। तुम्हें तो मुनि बनना है, पंडित नहीं। पंडित तो बहुत से प्रोफेसर हैं, किंतु वे प्रोफेसर मुनि नहीं हैं। संतत्व तो जीवन की सम्राटता है। वह स्वयं के अहोभाव में डूबना है।

मैंने पाया कि एक साठ वर्ष के वृद्ध व्यक्ति ने संन्यास लिया और दूसरे दिन ही उसके गुरु ने उसे पाणिनि का व्याकरण पकड़ा दिया। अब बेचारा वह बूढ़ा संत सुबह-शाम ‘अइण्ण, ऋलृक्’ जैसे सूत्रों को रट रहा है। मृत्यु उसके सामने खड़ी है। क्या ये भाषा-पढ़ाऊ सूत्र उसे बचा पाएँगे अथवा डूबते हुए के लिए तिनके का सहारा बन पाएँगे ? आचार्य शंकर कहते हैं –

भज गोविंदम् भज गोविंदम्, भज गोविंदम् मूढमते।

सम्प्राप्ते सन्निहिते काले, नहि नहि रक्षति डुंकं करणे ॥

मात्र शब्दों के भार से अपने को मत भरो। अनाहत नाद तो निःशब्दता को पहली शर्त मानता है। यदि शब्द को ही साधना है, तो उस शब्द को पकड़ो जिससे सब प्रकट हुए हैं –

साधौ सबद साधना कीजै।

जेहि सबद तें प्रगट भये सब, सोई सबद गहि लीजै ॥

उसी परम शब्द को पकड़ो। ॐ की ही प्रतिध्वनि सुनो। ॐ में ही रस लो।

ॐ में बड़ा आकर्षण है। 'रसो वै सः' वह रस रूप है। परमात्मा रस रूप है। 'ॐ' उसका वाचक है। उसमें डूबो। रोम-रोम से उसी का रस पीयो।

'ॐ' ध्यान की मौलिक ध्वनि है। 'ॐ' का ध्यान हम चार चरणों में पूरा कर सकते हैं। इन चार चरणों का कुल समय पैंतालीस मिनट होना चाहिए। पहला, दूसरा और तीसरा चरण दस-दस मिनट का है और अंतिम चरण पंद्रह मिनट का।

'ॐ' ध्यान-योग के पहले चरण में ॐ का पाठ करो। उसका लंबा उच्चारण करो अर्थात् उसका जोर से उद्घोष करो। दूसरे चरण में होठों को बंद कर लो और भीतर उसका अनुगूँज करो। जैसे भौरे की गूँज होती है, वैसी ही ॐ की गूँज करो। तीसरे चरण में मनोमन 'ॐ' का स्मरण करो। श्वास की धारा के साथ 'ॐ' को जोड़ लो। तल्लीनता इतनी हो जाए कि श्वास ही 'ॐ' बन जाए। चौथे चरण में बिल्कुल शांत बैठ जाओ। मात्र अनुभव-दशा। ॐ को, ॐ के स्वरूप को, ॐ की चेतना को स्वयं में व्याप्त हो जाने दो।

पहला चरण पाठ है, दूसरा चरण जाप है, तीसरा चरण अजपा है और चौथा चरण अनाहत है। चौथे चरण में पूरी तरह शांत बैठना है, स्मृति से भी मुक्त होकर। शांति के इन क्षणों में ही अनाहत की संभावना होगी।

'ॐ' परमात्मा का ही द्योतक है। इसलिए इसमें रचो। यह महामंत्र है। सारे मंत्रों का बीज है यह। हर मंत्र किसी न किसी रूप में इसी से जुड़ा है। इसलिए ॐ मंत्रयोग की जड़ है।

एक पेड़ में हजारों पत्ते हो सकते हैं, पर जड़ तो एक ही होती है। जिसने जड़ को पकड़ लिया, उसने जड़ से जुड़ी हुई हर संभावना को आत्मसात् कर लिया।

'ॐ' कालातीत है, अर्थातीत है, व्याख्यातीत है। परमात्मा भी इसी में समाया हुआ है और वह परमात्मा में समाया हुआ है। ईसाइयों का आमीन 'ॐ' ही है। जैनों ने 'ॐ' में पंच परमेष्ठि का निवास माना है। हिंदुओं ने उसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश का संगम माना है। परमात्मा में डूबने वाले 'ॐ' में डूबें। ॐ से ही अस्तित्व ध्वनित होता है। 'ॐ' से ही परमात्मा अस्तित्व में घटित होता है। 'ॐ शांतिः'— इसके आगे और कोई चरण नहीं है।



ॐ : सार्वभौम मंत्र

ॐ में वह सूक्ष्म मंत्र-शक्ति है जिससे
अंतराय टूटते हैं और चेतना का ज्ञान होता है।



सृष्टि का सूक्ष्मतम महामंत्र है ॐ। दिखने में छोटा-सा, किंतु परिणामों में वह अनंत शक्ति का स्वामी है। बीज से बरगद का विकास होता है और बरगद पुनः बीज में समाहित हो जाता है। दुनिया के सारे आध्यात्मिक रहस्य इसी तरह ॐ से निःसृत हुए हैं और पुनः ॐ में ही समाहित होते हैं।

‘ॐ’ की ध्वनि-संहिता अत्यंत सूक्ष्म है। यह अखंड शब्द है। इसके खंड और विभाग करने के प्रयास तो किए गए हैं, किंतु इससे ‘ॐ’ की अखंडता को कोई चोट नहीं पहुँचती है। हाँ, यदि ‘ॐ’ को खंडित न किया जाता, तो शायद विश्व के सारे धर्मों का एक ही मंत्र और एक ही प्रतीक होता, और वह है ॐ।

‘ॐ’ के मुख्यतः तीन खंड किए गए हैं। ‘अ’, ‘ऊ’, ‘म’ – अर्थात् ‘ए’, ‘यू’, ‘एम’। संस्कृत से निष्पन्न सभी भाषाओं का प्रथम स्वर ‘अ’ है। ‘अ’ अनन्तता का वाचक है। ‘अ’ आश्चर्य का द्योतक है। जब कोई व्यक्ति बोलते-बोलते अटक जाता है, तो उसके मुँह से अटकाहट के रूप में ‘अ’ ही निष्पन्न होता है। ‘अ’ तो आदि ध्वनि है। ‘अ’ से पूर्व कोई भी वर्ण होठों से निकल नहीं सकता। यदि किसी वर्ण से ‘अ’ का लोप कर दिया जाए, तो वह वर्ण से सीधा व्यंजन बन जाएगा। संपूर्ण भाषा-तंत्र की वैसाखी ‘अ’ ही है; इसलिए ‘ॐ’ से अनुस्यूत स्वीकार करना है।

कहते हैं जब पाणिनि ने शिव का डमरू-नाद सुना, तो उसके नाद में पाणिनि को चौदह सूत्र सुनाई दिए। सारे सूत्रों का शिरोमणि ‘अ’ बना। ‘अ’ के हटते ही शब्द की पूर्णता को लँगड़ी खानी पड़ती है। ‘अ’ की आदिम पराकाष्ठा को स्वीकार करने के कारण ही श्रमण-परंपरा ने अपने धर्म-चक्र प्रवर्तकों को तीर्थकर कहने के बजाय अर्हत् और अरिहंत कहना ज्यादा उचित माना। वे तीर्थकर की वंदन विरुदावली

गाते हैं, तो उसका प्रारंभ 'णमो अरिहंताणं' से करते हैं। यदि वे 'णमो तित्थयराणं' कहें, तो कह तो सकते हैं, परंतु वे 'ॐ' से हटना नहीं चाहते, क्योंकि 'ॐ' का 'अ' श्रमण-परंपरा के अनुसार अरिहंत का वाचक है। इसलिए 'ॐ' अर्हत्-मनीषा का मूल प्रतीक है।

'अ' प्रथम स्वर है, तो 'ऊ' हिंदी के अनुसार तो छठा अक्षर है, किंतु संस्कृत के अनुसार 'ऊ' तीसरा स्वर भी है और छठा स्वर भी। 'ऊ' स्वर ऊर्ध्वगामी होता है। 'ऊ' ठेठ नाभि से उपजता है। ॐ ऊर्जा का वाचक है। ज्ञान का प्रतीक 'उपाध्याय' शब्द उ का ही विस्तार है। 'ॐ' का काम है मानसिक वेदना और व्यथा को व्यक्ति से अलग करना। संपूर्ण 'ॐ' में 'ऊ' ही ऐसा वर्ण है जिसके उच्चारण से शरीर के सारे अवयव प्रभावित और संपादित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति मानसिक तनाव से घिर जाए, तो उससे मुक्ति पाने के लिए वह 'ॐ' का जोर-जोर से उच्चारण करे। 'ॐ' को वह इस प्रकार बोले, मानो वह सिंहनाद कर रहा हो। यह प्रयोग व्यक्ति को आश्चर्यचकित कर डालेगा। उसका शरीर पसीना-पसीना होने लगेगा। जब 'ऊऽ' 'ऊऽ' करते थककर चूर हो जाओ, तो शांत हो जाना। पहले दस मिनट तक तो बोलना और अगले दस मिनट तक शांत पड़े रहना।

'ॐ' का यह प्रयोग वेदना-मुक्ति हेतु किया जाने वाला मंत्र-योग है, ध्यान का एक मार्ग है। एक नई ताजगी देगी यह प्रक्रिया। उससे शरीर को तंदुरुस्त व मन को स्वस्थ कर पाओगे।

'ॐ' का अंतिम वर्ण 'म्' है। 'म्' व्यंजन-वर्ग का आखिरी सोपान है। जो 'अ' से चालू हुआ, 'ॐ' की ऊँचाइयों को छुआ और 'म्' तक पहुँचा, उसने मंजिल पा ली। 'म' के मायने है मंजिल। म से ही मौन विकसित होता है। म से ही मुनित्व का विकास हुआ है। म से ही मन बना है, म से ही मनन और म से ही मनु और मनुष्य का संबंध है। 'अ' से 'म' की यात्रा 'ओम्' की यात्रा है और 'ॐ' की यात्रा परमात्मा की यात्रा है। परमात्मा 'ॐ' से कभी अलग नहीं हो सकता। 'ॐ' में ही समाया हुआ है परमात्मा। ब्रह्म-बीज है यह। 'ॐ' से ही निकली है सारे महापुरुषों और धर्म-प्रवर्तकों की रश्मियाँ। भूमा होने का अर्थ ही यही है कि व्यक्ति ने विराटता को प्राप्त कर लिया। एक बात तय है कि 'ॐ' सबसे विराट् है। 'ॐ' से विराट् नहीं हुआ जा सकता। इसलिए जो 'ॐ' हो गया, वह अरिहंत हों गया। 'ओम्' होना ही 'हरि ओम्' होना है। 'ॐ' से ही यात्रा की शुरुआत है और 'ॐ' पर ही उसका समापन। 'ॐ' के बिना सारी साधना अपंग है।

'ओम्' और 'स्वस्तिक' का बड़ा गहरा संबंध है। 'ओम्' यदि भारत की आवाज है, तो 'स्वस्तिक' उसकी अस्मिता। 'स्वस्तिक' कर्म-योग का परिचायक है। एक दृष्टि से तो स्वस्तिक कर्मयोग के प्रतीक माने जाने वाले सुदर्शन-चक्र से भी

उत्तम है। 'चक्र' संहार कर सकता है, किंतु 'स्वस्तिक' का काम निर्माण करना ही है। 'स्वस्तिक' में चार दिशाएँ हैं, यानी स्वस्तिक का काम हुआ हर दिशा में व्यक्ति को आगे बढ़ने की प्रेरणा देना। 'स्वस्तिक' भारतीयता का, कर्मठता और जागरूकता का महाप्रतीक है। उसके पास ओछे लोगों के प्रति तिरस्कार नहीं, मात्र करुणा है। वह उनका संहार नहीं करता, वरन् उनका सुधार करता है। जो अच्छे हैं, वे आगे बढ़ें और जो जो बुरे हैं, वे सुधरें, किंतु साथ ही साथ वे भी आगे बढ़ें। इसलिए 'स्वस्तिक' जीवन-जागरण और कर्मयोग का महान संदेशवाहक है।

'स्वस्तिक' के अलग-अलग कोणों से जुड़ी हुई रेखाएँ अलग-अलग धर्मों का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। मार्ग/रेखाएँ चाहे जिस दिशा से आएँ, किंतु हर रेखा केंद्र तक ही पहुँचती है। 'ओम्' 'स्वस्तिक' का केंद्र है। चाहे जिस मार्ग से चलो या चाहे जिस पंथ का अनुगमन करो, चाहे स्वयं के बल पर चलो और चाहे किसी के सहारे; सबकी गंतव्य-पूर्ण यात्रा ब्रह्म स्वरूप-ओम् पर केंद्रित है और वहाँ तक जाना और ले जाना ही अध्यात्म का उद्देश्य है। चित्त के विक्षेपों के विलय के लिए ॐ रामबाण ओषधि है। समाधि के लिए चित्त-वृत्तियों और विक्षेपों का निरोध अनिवार्य है।

'ओम्' को हम मात्र शब्द न कहकर जीवन की संपूर्ण अभिव्यंजना ही कहेंगे। 'ओम्' को हमने शब्द माना, इसीलिए 'अ' 'ऊ' 'म' के रूप में 'ओम्' के अलग-अलग विभाग खोले। 'ओम्' तो जीवन की अंतर्प्रतिष्ठा है। शब्द को जीवन से अलग किया जा सकता है, लेकिन जीवन को जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। 'ओम्' तो गूंगे में भी प्रतिष्ठित है और बहरे में भी। 'ओम्' तो पंचम स्वर है। इसकी करुणा के द्वार खुलने पर गूंगा गूंगा नहीं रह जाता और बहरा बहरा नहीं रह पाता। उसका हृदय ही अभिव्यक्त हो उठता है। हृदय बोलता है 'ओम्'। होठों से 'ओम्' बोलना तो अभिव्यक्ति की एकाग्रता और मानसिक ऊहापोह पर चोट है। 'ॐ' का प्रबल दावेदार तो वह है जिसका हृदय खुल गया है। हृदय से उमड़ने वाला 'ओम्' तो अमृत का निर्झर है। वह उसे आनंद से भिगो देता है और उसका रोम-रोम निहाल हो जाता है।

'एक ओंकार सतनाम' – परम सत्य का नाम तो एक ही है। 'चैतन्य' और 'आनंद' सच्चिदानंद के सत्य से ही जुड़े हुए हैं। सत् का सीधा संबंध आत्म-अस्तित्व और परमात्म-संपदा से है।

'ओम्' के तीन वर्ण – अ, ऊ, म त्रिदेव – ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। इन्हीं तीन वर्णों का प्रतीक बना है शिव-शक्ति का त्रिशूल। आदिनाथ के अ से ओम् की शुरुआत है और महावीर के म पर 'ओम्' का उपसंहार। चाहे जितने अवतार, बुद्ध-पुरुष और तीर्थंकर क्यों न होते रहें, सब ओम्-ही-ओम् होते रहेंगे।

संसार के किसी भी कोने में चले जाओ, 'ओम्' का पूर्ण या अपभ्रंश मिल ही

जाएगा। बिना 'ओम्' के हर धर्म अधूरा है। धर्म जीवन का स्वभाव है, वह साँसों में रमने वाला व्यक्तित्व है। 'ॐ' तो अस्तित्व की परम उपज और चरम झंकृति है।

ओम् जहाँ भी गया, जिस रूप में भी गया, सबका आराध्य और मंत्रों का ताज बनकर रहा। यदि भारतवासियों को अपने अध्यात्म का एक ही प्रतीक विश्व के सामने पेश करना हो, तो 'स्वस्तिक' और उसके नाभिस्थल में 'ओम्' को दर्शाना चाहिए। अब तो ईसाइयत भी ओम् को स्वीकार करने लग गई है। ईसाई लोग भी यह मानने लग गए हैं कि उनका 'आमीन' उच्चारण वास्तव में 'ओम्' का ही अपभ्रंश या परिवर्तित रूप है। जब मैंने एक 'चर्च' पर क्रॉस के बीच 'ओम्' को प्रतिष्ठित देखा, तो मुझे लगा कि ईसाइयों का यह प्रतीक अध्यात्म और कर्मयोग का संगम है। 'ओम्' भारत से यहूदी देश पहुँचते-पहुँचते 'आमीन' हो गया और 'स्वस्तिक' 'क्रॉस'। 'क्रॉस' स्वस्तिक का ही परिवर्तित रूप है। आखिर स्वस्तिक ने कितनी लंबी-चौड़ी यात्रा की। यात्रा में वह घिसा भी, कटा भी और फिर जो रूप बचा, उसे हम आज क्रॉस के रूप में देख रहे हैं।

स्वस्तिक केवल कर्मयोग का ही परिचायक नहीं है, वरन् स्वास्थ्य का भी प्रतीक है। 'वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गेनाइजेशन' ने 'रेड क्रॉस' का चिह्न स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के प्रतीक के रूप में माना है। उसकी 'स्वस्तिक' से बड़ी समानता है। रेड-क्रॉस का संबंध मात्र स्वास्थ्य-सेवा से है, जबकि स्वस्तिक का संबंध जीवन की समग्रता से।

'स्वस्तिक' गति है और 'ओम्' शांति। विकास और आनंद, दोनों का संदेशधारी है यह। 'स्वस्तिक' क्रॉस बना, तो 'ओम्' का भी स्वरूप बदला।

'ॐ' केवल शब्द नहीं है। शब्द के रूप में उसे लिखा भी नहीं जाता। 'ॐ' तो चित्र है। निःशब्द की यात्रा में शब्द छूट जाता है और चित्र उभर आता है। इसलिए हम 'ओम्' न लिखकर 'ॐ' लिखते हैं। हमें 'ॐ' लिखने का ऐसा अभ्यास हो गया है कि वह हमें चित्र के बजाय शब्द ही लगने लग गया है। किसी चित्र को बनाने के लिए तूलिका चाहिए, पर 'ॐ' तो कथनी और लेखनी के साथ इतना जुड़ गया है कि उसका चित्र कलम से ही पूरा हो जाता है। एक बच्चा भी चित्र बना सकता है 'ॐ' का। जो 'अ' लिख सकता है, वह 'ॐ' भी लिख सकता है। 'ॐ' चित्र-रूप में रहा। जैसलमेर के प्राच्य भंडारों में 'ॐ' के विभिन्न रूपों में कई चित्र उपलब्ध है।

ॐ की आकृति पर कभी आपने ध्यान दिया? हर व्यक्ति शुभ अथवा मंगल कार्य के लिए 'श्री गणेशाय नमः' लिखता है। ॐ की आकृति स्वयं में ही गणेश के रूप को लिए हुए हैं।

'ॐ' शब्द-रूप में भी रहा। 'ॐ' का इस्लाम से भी संबंध है। 'ॐ' का 'अ'

‘अल्लाह’ बन गया और ‘ॐ’ के सिर पर दर्शाया जाने वाला रूप इस्लाम का अर्धचंद्र बन गया। इस्लाम में आधे चाँद की बड़ी इबादत और इज्जत है। आधा चाँद ‘ॐ’ का ऊपर का हिस्सा है। ‘ॐ’ वहाँ इतना घिस गया कि उसका अर्धचंद्र रूप ही बच पाया। चाँद का आधा रूप इस्लाम का धर्म-प्रतीक है। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जैन धर्म ने तो निर्वाणधाम का रूप भी अर्धचंद्राकार माना है। वहाँ उसे ‘सिद्धशिला’ कहा जाता है। सिद्धशिला संसार से ऊपर है। ‘ॐ’ का अंकित किया जाने वाला चंद्राकार ‘ॐ’ का ऊर्ध्व-प्रतिष्ठित रूप है। अर्धचंद्र तो सिद्धशिला का द्योतक है और उसके अंदर दिया जाने वाला बिंदु सिद्ध एवं मुक्त आत्माओं का प्रतीक है।

‘गिरह हमारा सुन्न में, अनहद में विश्राम’ – शून्य ही सिद्धत्व का घर है। बिना आधार के भी वह घर टिका है। सिद्धशिला को लोकाकाश के ऊपरी और आखिरी छोर पर मानना न केवल शून्य में सिद्धत्व की अभिव्यक्ति है, अपितु अंतरिक्ष और अंतरिक्ष के पार अवस्थिति की स्वीकृति भी है।

घर बने शून्य में और विश्राम हो अनहद में, ओंकारेश्वर में।

‘ततः प्रत्यक्चेतना अधिगमः अपि अंतराय-अभावश्च’ – पतंजलि ‘ॐ’ को ही वह प्रबल साधन मानते हैं जिससे अंतराय टूटते हैं और चेतना का ज्ञान होता है। अंतराय का अर्थ होता है बाधा। अंतराय तो पर्दा है। चेतना-जगत् के इर्द-गिर्द पता नहीं, कितनी परतें/पर्दे हैं। हर अंतराय चित्र का विक्षेप है। विक्षिप्त मनुष्य अंतर्यात्रा में दिलचस्पी नहीं ले पाता। व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति/आसक्ति, भ्रान्ति, लक्ष्य की अप्राप्ति और अस्थिरता – ये सभी प्रमुख अंतराय और चित्त-विक्षेप हैं। ‘ॐ’ में ऐसी शक्ति एवं क्षमता है कि वह हर बाधा को कमजोर करता है, उसे जीवन-पथ से हटने के लिए मजबूर करता है।

शरीर का रुग्ण रहना स्वाभाविक है, किंतु निरोग होना चमत्कार है। ‘ॐ’ मनोवैज्ञानिक ध्वन्यात्मक चिकित्सा है। ‘ॐ’ को यदि हम प्रखरता के साथ आत्मसात् होने दें, तो जैसे शरीर से पसीना बाहर निकल आता है, वैसे ही रोग भी शरीर से दूर हट जाते हैं। शरीर को संयमित रखना और संयमित आहार ग्रहण करना ‘ॐ’ की व्याधि-मुक्ति-प्रक्रिया को और अधिक बल देना है। ‘ॐ’ में थिर होने वाला स्वास्थ्य-लाभ और अप्रमत्तता तो क्या, आत्म-स्थिरता/स्थितप्रज्ञता को उपलब्ध कर लेता है। ‘ॐ’ तो अनमोल शब्द है। हीरों के दाम होते हैं, किंतु ‘ॐ’ हर मोल से ऊपर है।

सबद बराबर धन नहीं, जो कोई जाने बोल।

हीरा तो दामों मिले, सबदहिं मोल न तोल ॥

(– कबीर)

‘ओम्’ तो परा-ध्वनि है। वह भाषा-जगत् का सूक्ष्म विज्ञान है। ‘ॐ’ को ही अपनी ध्वनि बनने दो और उसी की प्रतिध्वनि स्वयं पर बरसने दो। ‘ॐ’ की प्रतिध्वनि जब स्वयं हम पर ही लौटकर आएगी, तो उसकी प्रभावकता केवल कानों से ही नहीं, बल्कि रोम-रोम से हमारे भीतर प्रवेश करेगी। हर रोम कान बन जाएगा और एक ग्राहक की तरह उसे ग्रहण करेगा। कान ग्राहक है। आँख का काम घूरना है, जबकि कान का काम वरण करना। श्रवण का उपयोग करने वाला श्रावक है और महावीर की मनीषा में ‘श्रावक’ होना जीवन की पहली आध्यात्मिक क्रांति है।

‘ओम्’ से बढ़कर श्रवण क्या होगा! बड़ा मधुर है ‘ॐ’। ‘ॐ’ रस है, माधुरी से सराबोर। ‘ॐ’ का विज्ञान भी मधुर है, किंतु ‘ॐ’ का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। अर्थ तो शब्दों के होते हैं। ‘ॐ’ को प्रतीक बनाया जा सकता है। उसको कहने और सुनने में डूबा जा सकता है, परंतु अर्थ की सीमाओं में उसे नहीं बाँधा जा सकता। ‘ॐ’ अर्थों से ऊपर है। वह अर्थातीत है।

इसलिए ‘ओम्’ में सिर्फ जिया जा सकता है। जो मुँह से और मन से बोलते-बोलते अंतस्तल से बोलने लग जाता है, उसकी चक्र-संधान की यात्रा पूरी हो जाती है। उसका विश्राम तो फिर अनहद में होता है, सहस्रार में, ब्रह्मरंध्र में।

पहले-पहले तो ‘ओम्’ को बोला जाता है, सुना जाता है, किंतु सिद्धत्व के करीब पहुँचने पर सिर्फ उसकी अनुभूति ही की जाती है। वह अहसास में सुना जाता है। बिना बोले भी सुना जाता है। यह कम दिलचस्प बात नहीं है कि भगवान को देखा नहीं जा सकता, वरन् सुना जा सकता है। भगवान की अभिव्यक्ति ‘ॐ’ के रूप में होती है। ‘ॐ’ को देखोगे कैसे? उसे तो सुनोगे ही। द्रष्टा होने का अर्थ केवल देखना नहीं है। जो दिखाई दे रहा है, उससे हटना है। जब दिखना बंद हो गया, तभी हकीकत में सुनना प्रारंभ हुआ और वह श्रवण तब पुरजोर होता है, जब साधक सातवें चक्र में अपने कदम पाता है। यह पराकाष्ठा है।

‘ॐ’ से साध्य की खोज प्रारंभ करो। संभव है, पहले हम लड़खड़ाएँगे, तुतलाएँगे, लोग मजाक भी उड़ाएँगे, पर घबराना मत। यदि भयभीत हो गए, तो कैसे दौड़ पाओगे किसी प्रतियोगिता में? कोई माघ या मैक्समूलर कैसे पैदा होगा? आखिर बीज बोते ही तो बरगद नहीं बनता। माली का काम सींचना है। फल तो तब लगेँगे, जब ऋतु आएगी। ऋतु ज्यादा दूर नहीं है। कोई की ऋतु चेतना के द्वार पर आठ वर्ष की उम्र में भी आ जाती है, तो किसी को अस्सी वर्ष तक भी इंतजार करना पड़ता है। ऋतु तो पर्वत के पीछे खड़ी है। हम उसके पास कब पहुँचते हैं, यह सब-कुछ हमारी तैयारी पर और हमारी संलग्नता और समग्रता पर निर्भर है।



ध्यान और प्रेम : जीवन के दो आनंद-सूत्र

अपने ध्यान को प्रेम में विश्राम दें
और अपने प्रेम को ध्यान में निमग्न होने दें।



सत्य के फूल जीवन के हर कदम पर खिले हुए हैं। फूल बड़े बेहतरीन हैं। उनका सौंदर्य लाजवाब है। ये फूल अदृश्य हों, ऐसी बात नहीं है। फूल दृश्य हैं। इन्हें देखने की अंतर्दृष्टि चाहिए। ध्यानपूर्वक, सजगतापूर्वक देखते रहना सत्य के फूलों को पहचानने की दूरबीन है।

सत्य एक है, परंतु उसके रूप अनंत हैं। इसलिए सत्य भी अनंत है। जीवन और जीवन के परिवेश को ध्यानपूर्वक देखना और पढ़ना सत्य की गहराई को आत्मसात् करना है। सत्य प्रकाश है, किंतु सूरज या दीए की तरह नहीं। सत्य तो भ्रांतियों के अंधकार को दूर धकेलने वाली रोशनी है। वह स्वयं भी ज्योतिर्मय है। वह उसे भी ज्योतिर्मय कर देता है, जो सत्य को जीता है। स्वयं की ज्योतिर्मयता से अभिप्राय है विश्वास की अटलता, संदेह की उन्मूलनता और प्राप्त में प्रसन्नता।

सत्य ज्ञान है। सत्य-प्राप्ति का मतलब है सत्य को जान लेना। स्वयं को जानना तो सत्य है ही, उनको भी जान लेना सत्य की पहल है, जिनमें सत्य की संभावना है। सत्य को सत्य रूप में जान लेना ही सत्य नहीं है, असत्य को असत्य रूप में जान लेना भी सत्य है। वास्तव में सत्य का आविष्कार तभी होता है, जब असत्य को जान लिया जाता है। सत्य को दुलत्ती तब खानी पड़ती है, जब गलत को सही मान लिया जाता है और सही को गलत। गलत को सही मानना और सही को गलत मानना ही अविद्या है।

सत्य शांति है। अशांति मन से हटाना ही जीवन में शांति का उदय है। अशांति

का मूल कारण हमारे मन की ऊहापोह है। तनाव, चिंता, घुटन और अवसाद, ये सब मन की ऊहापोह और अशांति के कारण पनपते हैं। ये सब मन की दरारें हैं। मन से मुक्त होने का अर्थ है, मन का शांत होना। इसलिए शांति वास्तव में मन पर विजय है। मन की रौद्रता के रहते शांति कहाँ ? सौम्यता और शुभ्रता कहाँ ? रौद्रता अशुभ है और शुभ्रता शुभ। ध्यान तो रौद्रता से अलगाव है। वह शुभ में प्रवेश है। जो मन व्यक्ति के नियंत्रण से बाहर है, वह रौद्र है। मन का नियंत्रित होना ही शुभ्र और शुक्ल ध्यान है। मन जितना सुथरा होगा, ध्यान उतना ही तन्मय, उतना ही साफ/स्वच्छ होगा, और शांति उतनी ही पुरजोर होगी।

सत्य जीवन है। जीवन का अस्तित्व सत्य के कारण ही है। सत्य कुंठित हो जाए, तो जीवन कुंठित कहलाएगा अथवा इसे यों कहिए कि जीवन कुंठित है, तो सत्य कुंठित कहलाएगा। मुझे सत्य से प्रेम है, उतना ही प्रेम जितना जीवन से है। जितना जीवन से प्रेम है, उतना ही सत्य से है। सत्य और जीवन के बीच दूरी नहीं है। दोनों एक दूसरे के पर्याय भर लगते हैं। तुम सत्य से प्रेम करके देखो, जीवन से स्वतः प्रेम होने लगेगा। सत्य जीवन का ही एक चरण है। हमारी वाणी में ही केवल सत्य न हो, हमारी नजर और हमारी सोच में भी सत्य की सुवास हो, सत्य की आभा हो। वस्तुतः भीतर और बाहर का भेद मिट जाना चाहिए। दोनों के बीच अभेद स्थापित होना ही तो सत्य है। सही सोच हो, सही दृष्टि हो, सही वाणी और सही व्यवहार हो, यही तो सत्य को जीने का मार्ग हैं

मनुष्य स्वयं सत्य है। सत्य की प्राप्ति के मार्ग अनगिनत हैं। औरों की बात न भी उठाएँ, मनुष्य यदि मनुष्य को भी जान-समझ लेगा, तब भी उसकी उपलब्धि ओछी नहीं कहलाएगी। मनुष्य ने मनुष्य को जाना, मनुष्य ने मनुष्य को पाया, यह वास्तव में सत्य को ही जानना और पाना है। मनुष्य को जानने का मतलब है अपने आप को जानना। आत्म-ज्ञान इसी का दूसरा नाम है। कैवल्य और संबोधि इसी के शिखर हैं। आत्म-ज्ञान से बढ़कर सत्य को जानने का और कोई दूसरा बेहतरीन मार्ग नहीं हो सकता।

मनुष्य विचारप्रधान भी है और भावप्रधान भी। वह बहिर्मुखी भी है और अंतर्मुखी भी। बहिर्मुखी के लिए अंतर्यात्रा कठिन है। अंतर्मुखी के लिए बहिर्यात्रा पहाड़ी पगडंडियों पर चलने जैसी है।

विचारप्रधान व्यक्ति ज्ञानी है और भावप्रधान व्यक्ति प्रेमी। ज्ञानी ध्यान को अपनी नाव बनाता है और प्रेमी प्रार्थना को। ध्यान भी एक मार्ग है और प्रार्थना भी एक मार्ग है। ध्यान अलग ढंग की नौका है और प्रार्थना अलग ढंग की। ध्यानी भी पार लगता है और प्रेमी भी। महावीर और बुद्ध जैसे लोग ध्यान से पार लगे, यीशू

और मीरा जैसे लोग प्रेम के मार्ग से।

प्रार्थना का अर्थ ही प्रेम होता है। वह प्रार्थना केवल शब्द-जाल है, जो प्रेम और समर्पण से रहित है। परमात्मा छंदों एवं अलंकारों से भरी कविताओं से नहीं रीझते। उनकी पसंदगी तो हृदय का प्रेम है। प्रेम परमात्मा का प्रकाश है। प्रेम परमात्मा तक पहुँचने का पगथिया (सोपान) है। गूंगा प्रार्थना बोल नहीं सकता, लेकिन वह प्रार्थना कर सकता है। बोलना यदि प्रेमपूर्वक हो, तो वे बोल केवल वाक्-पटु प्रार्थना नहीं रह जाते, बल्कि वे परमात्मा की आँखों की पुतली बन जाते हैं।

प्रेम भी मार्ग है, ध्यान भी मार्ग है। सच तो यह है कि ध्यान प्रेम से अलग नहीं है और प्रेम ध्यान से जुदा नहीं है। ध्यान का अंतर्व्यक्तित्व प्रेम बन जाता है और प्रेम ध्यान का बुर्का पहन लेता है। इसलिए ध्यान प्रेम है और प्रेम ध्यान। ध्यान और प्रेम जीवन के रूपांतरण के दो आनंद-सूत्र हैं। ध्यान अपने प्रति, प्रेम जगत् के प्रति। मार्ग चाहे जो अपनाया जाए, मंजिल के करीब पहुँचते-पहुँचते सारे मार्ग एक हो जाते हैं। मार्ग तो आदमी की सुविधा के अनुसार बनाए जाते हैं। आदमी भी भला एक जैसे कहाँ होते हैं? कोई मोटा है तो कोई पतला, कोई लंबा है तो कोई बौना, कोई तार्किक है तो कोई याज्ञिक, कोई पंडित है तो कोई पुजारी। जब आदमी ही एक नहीं है, तो मार्ग एक कैसे होगा? मार्ग अनंत हैं। जिसकी जैसी रुचि हो, वह वैसे ही मार्ग पर अपने कदम बढ़ाए।

सारे मार्ग ध्यान के ही रूप हैं। उपासना भी ध्यान है, ज्ञान-स्वाध्याय भी ध्यान है, कर्म और भक्ति भी ध्यान है। अंतराय, चित्तविक्षेप, दुःख - दौर्मनस्य से मनुष्य को दूर करने के लिए ही ध्यान है। 'तत्प्रतिषेधार्थ एकतत्त्वाभ्यासः'। ध्यान एक तत्त्व का अभ्यास है। जब चित्त की वृत्तियाँ किसी एक ही वृत्ति में जाकर विलीन हो जाती हैं - जैसे नदियाँ सागर में समा जाती हैं, तो वृत्तियों के ऊहापोह की मूल अवस्था तिरोहित हो जाती है। एक का स्मरण, एक के अतिरिक्त सबका विस्मरण, यह लक्ष्योन्मुखता ही सत्य की उपलब्धि का मार्ग है। स्वयं को केंद्रित करो किसी एक तत्त्व पर, चाहे वह ईश्वर की उपासना हो, 'ॐ' पर ध्यान का केंद्रीकरण हो, वीतराग के आदर्श का पल्लवन हो, या और कोई मार्ग हो। मार्ग तो मात्र मंजिल तक पहुँचने का माध्यम है। मंजिल चित्त की शुद्धावस्था है, मन का मौन है, विकल्पों की उठापटक से मुक्ति है। किस प्रक्रिया से परम अवस्था को उपलब्ध करते हो, यह बात गौण है। यात्रा ही महत्वपूर्ण है। चिकित्सा की पद्धति पर अधिक मत उलझो। जिससे स्वस्थ हो सको, वही तुम्हारे लिए श्रेष्ठ है।

अपने आपको सबसे इतना ऊपर उठा लो कि जमाने का कोई भी दुर्व्यवहार हम पर असर न कर सके। बुरा बुराई कर रहा है, किंतु कहीं हम तो उसके साथ बुरे

नहीं हो गए हैं, इस बात का ध्यान रखो।

एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं देकार्त। एक बार किसी ने उनसे दुर्व्यवहार किया, मगर देकार्त ने उसे कुछ न कहा। इस पर एक मित्र कहने लगे, 'तुम्हें उससे बदला लेना चाहिए था। उसका सलूक बहुत बुरा था।' देकार्त नमी से बोले - 'जब कोई हमसे बुरा व्यवहार करे, तो अपनी आत्मा को उस ऊँचाई पर ले जाना चाहिए, जहाँ कोई दुर्व्यवहार उसे छू ही नहीं सकता।'

ध्यान उस ऊँचाई को जीने का राजमार्ग है। आत्मा वह तत्त्व है जिस पर हमें अपना ध्यान केंद्रित करना है। ध्यान के लिए किसी आसन या आँखों पर पट्टी बाँधने की जरूरत नहीं होती। ध्यान के लिए चाहिए सिर्फ संकल्प। संकल्प जितना परिपूर्ण और उल्लास भरा होगा, ध्यान हमारा उतना ही सक्रिय होगा। आत्म-संकल्प और आत्म-निर्णय ही ध्यान का प्रथम सूत्र है।

हमें अपनी ऊर्जा को एक बिंदु पर केंद्रित करना चाहिए। केंद्र की यात्रा के लिए हमें परिधि का मोह तजना ही होगा। ऊर्जा जितनी केंद्रित होगी, शक्ति उतनी ही सघन बनेगी। ऊर्जा का बिखराव तो चित्त की विक्षिप्तता है। इसलिए अपना ध्यान अपनी ऊर्जा को केंद्रित करने पर लगाएँ।

महावीर और बुद्ध ने ध्यान की विधि बताई है। 'अनुप्रेक्षा' महावीर की ध्यान-विधि का नाम है और 'विपश्यना' बुद्ध की ध्यान-विधि का। अनुप्रेक्षा और विपश्यना, दोनों दो नाम होते हुए भी समानांतर नहीं हैं। अनुप्रेक्षा का अर्थ है अंदर देखना। अंतर्दर्शन ही अनुप्रेक्षा है। विपश्यना भी इसी अर्थ का पर्याय है। ढाई हजार वर्षों के बाद भी इस ध्यान-विधि की महिमा और गरिमा में थोड़ा-सा भी हास नहीं हुआ है। आज भी मनुष्य की अंतर्यात्रा में अनुप्रेक्षा और विपश्यना अर्थपूर्ण हैं, उपयोगी हैं।

हम बैठ जाएँ। आँखें बंद करें। शरीर और मन को तनाव न दें। अपने ध्यान को श्वास पर केंद्रित करें। श्वास की यात्रा में हम नाक के ऊपर दोनों भौंहों के बीच विशेष ध्यान दें।

यह एक तत्त्व पर अपना ध्यान केंद्रित करने की प्रक्रिया है। संभव है ध्यान में विचार भी उठें, ध्यान कहीं और भी चला जाए, किंतु इससे घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे देख लें, सुन लें और फिर ध्यान को श्वास की यात्रा के साथ जोड़ दें।

विधि तो और भी कोई स्वीकारी जा सकती है। महत्त्व इस बात का है कि हम अपने लक्ष्य पर किस त्वरा के साथ जुड़ते हैं। त्वरा से जीना ही ध्यान है। जीवन के नाटक का कब पटाक्षेप हो जाए, इसका कोई भरोसा नहीं है। पाँवों में मृत्यु का काँटा कभी भी गड़ सकता है। कुछ हो, उससे पहले सत्य को समझ लेना चाहिए। जीवन

से बढ़कर और अन्य सत्य क्या होगा ?

जीवन सत्य है; झूठ तो मृत्यु है। जीवन जीने वाला मृत्यु को भी जीता है। मृत्यु से डरना हमारी हार है। जीवन तो मृत्यु के पार भी है। समय पर शाश्वतता के हस्ताक्षर वही कर सकता है जो जीवन और मृत्यु के आर-पार झाँकता है। अंतर्द्रष्टा सहज मुक्त है। जीवन बिखेरने/मिटाने के लिए नहीं है। वह तो जीने और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है।

हमारे पास ढेरों संपदाएँ हैं। शरीर भी हमारी संपदा है। विचार अमूल्य होते हैं। आत्मा भी हमारी संपदा है। जीवन के सारे मूल्य उसी से जुड़े हैं। संपदाएँ सुरक्षा चाहती हैं, स्वस्थता चाहती हैं, तरोताजगी चाहती हैं। जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने में समेटे रहता है, वैसे ही तो आत्म-नियंत्रण का भी अपना शास्त्र है। जो आत्म-नियंत्रित है, स्वानुशासित है, उसे कैसा खतरा और कैसा भय ? व्यक्ति ही स्वामी होता है अपनी संपदाओं का।

तेरो तेरे पास है, अपने माँहि टटोल।

राई घटै न तिल बढ़ै, हरि बोलो हरि बोल ॥

तुम्हारी संपदा तुम्हारे पास है। खोजना भी क्या, सिर्फ टटोलना और पहचानना है। तुम दुनियादारी के रंग में इतने अधिक रच-बस गए हो कि तुम्हें तो आज स्वयं की संपदा को भी टटोलने की जरूरत आ पड़ी है। ईश्वर की संभावना भी हमारे जीवन से जुड़ी है। इसलिए ईश्वर की उपासना भी अपनी उपासना है। स्वयं को टटोलना ईश्वर को ही टटोलना है।

‘हरि बोलो हरि बोल’ – उसकी स्मृति ही उसकी प्राप्ति का नुस्खा है। हरि का अर्थ होता है हरने वाला। तुम उसे याद करो, वह तुम्हारे पाप हरेगा। भले ही अंधेरा हो, पर टटोलने पर वह मिल ही जाएगा क्योंकि हमसे अलग नहीं है हमारी संपदा। यदि उसने एक बार भी हाथ थाम लिया, हमारा समर्पण स्वीकार कर लिया, हमारे परमात्म-संकल्प को सर्वतोभावेन मान लिया, तो उससे गलबाँही करनी कल की प्रतीक्षा नहीं करेगी। जिसे हम हाथ समझ रहे हैं, वह हाथ नहीं, वह पारस है। फिर हम वे न रहेंगे, जो अभी हैं। हाथ यदि पारस थामे, तो लोहा लोहा कैसे रह पाएगा ! हम स्वर्ण-पुरुष हो सकते हैं, उसका हाथ हमारी और बढ़ा हुआ है। आवश्यकता है अपना हाथ बढ़ाने की, अपने संकल्प और अपने निष्ठा-मूल्यों की।

‘तत्प्रतिषेधार्थ एकतत्त्वाभ्यासः’ – जीवन में एक तत्त्व का, एक रूप का अभ्यास हो। चित्त के विक्षेपों, जीवन के अंतरायों को बिखेरने के लिए हम एक तत्त्व से अपना संबंध जोड़ें। वह पहले तत्त्व हो तुम स्वयं। परमात्मा तुम्हारी ही पराकाष्ठा का नाम है। ऐसा समझो कि तुम किरण हो और परमात्मा सूरज। तुम सूरज की किरण हो और वह किरण का आधार। तुम जब भी अपने आप पर ध्यान दोगे, तुम्हारी आत्मा

उस दिव्य चेतना की प्यास और प्रेम से भर उठेगी। मैं ध्यान पर जितना जोर दूंगा, उतना ही प्रेम पर। आप इसे यों भी कह सकते हैं कि मैं जितना प्रेम पर जोर दूंगा, उतना ही ध्यान पर। प्रेम जगत् की खुराक है और ध्यान स्वयं की। तुम अपने ध्यान को प्रेम में विश्राम दो और तुम अपने प्रेम को ध्यान में निमग्न होने दो। इन दोनों का समन्वय और संतुलन हमें हर हाल में उस 'एक' तत्त्व से जुड़ा हुआ रखेगा।

सजगता रखो कि ध्यान कभी खंडित न हो पाए और प्रेम कभी कुंठित न हो पाए। तुम्हारे प्रेम में भी ध्यान की आभा, ध्यान की सजगता अवश्यमेव हो। तुम जब भी किसी से प्रेम करो, यहाँ तक कि अपने बेटे का माथा चूमो या किसी को गले लगाओ, उन क्षणों में भी ध्यान तुम्हारे भीतर अवश्य हो। जीवन में कभी भी, किसी भी क्षण, किसी भी परिवेश में हमारी आत्मा मूर्च्छित और बेहोश न हो जाए, यह सजगता जरूरी है।

मुझे प्रेम से प्रेम है। प्रेम जीवन को जीने की रसभरी कला है। प्रेम को जीवन से हटा दो, तो जीवन एक दफा नीरस ही लगने लगेगा। प्रेम हमारे हृदय को सुकून देता है, चित्त को प्रसन्नता देता है और जीवन में मैत्री और माधुर्य का रस घोलता है। किसी से भी द्वेष और ईर्ष्या न होना ही प्रेम की सच्ची पूजा है। निमित्त का होना या न होना मूल्यवान नहीं है अपितु स्वयं का सदा दया, करुणा, मित्रता, सहनशीलता और क्षमा की सद्भावना से आपूरित रहना ही प्रेमपथ का अनुगमन करना है। दीन-दुखी पर करुणा बरसाना तो प्रेम है ही, अपमान और अपकार करने वाले के प्रति भी सम्मान और उपकार की उदारता रखना स्वस्थ प्रेम को जीना है। जिस प्रेम में स्वार्थ है, भेदभाव है, अपना-परायापन है, वह प्रेम नहीं, मनुष्य की मजबूरी और कमजोरी है। इसीलिए कहता हूँ कि हमारे प्रेम में ध्यान की आभा हो और ध्यान में प्रेम की पूर्णता।

तुम अपने प्रेम को प्रार्थना होने दो। तुम प्रेम को उसकी पूर्णता प्राप्त होने दो। शुरुआती दौर में तुम्हें दोनों अलग-अलग लगेंगे, पर हकीकत यह है कि दोनों एक दूसरे की 'सपोर्टेड लाइन' हैं। शब्दों को गौण होने दो। शब्दों में रहने वाली स्थिति को खुद के साथ रूबरू हो लेने दो। ध्यान स्थितप्रज्ञ-दशा है और प्रेम भाव-दशा। दोनों को एक रूप हो लेने दो, जीवन का बोध और आनंद अनेरा होगा।

जीवन के लिए ये बातें किसी गुरुमंत्र का काम करेंगी, ऐसा विश्वास है। 'सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्'— सत्य का ध्यान हो, शिवरूप हमारा स्वरूप हो और सुंदर हमारे हर कार्य हों। यही है दृष्टि जीवन की, जीने की, अमृत-पथ की।



पहचानें स्वयं को- 'कौन हूँ मैं ?'

जिस दिन बँधन तुम्हें बँधन लगेंगे, उसी दिन
मुक्ति की पहली किरण हृदय में उतर आएगी।



जिन्दगी में जिंदगी से बढ़कर कोई मूल्यवान चीज नहीं है। जीवन की सारी विराटता के गुण जिंदगी से ही जुड़े हैं। अतीत हो या भविष्य, हमारे जीवन से ही जुड़े हुए हैं। नरक से स्वर्ग तक के सारे ताने-बाने जिंदगी से ही जुड़े हैं। जीवन का अर्थ जन्म से मृत्यु के बीच का विस्तार नहीं है, बल्कि जीवन वह है जो मृत्यु के पार भी अस्तित्ववान रहता है।

मृत्यु का किसी भी देहरी से स्वागत हो, मृत्यु चाहे जिस रूप में हमारे सामने आए, जीवन का संबंध तो जन्म से पहले भी था और मृत्यु के बाद भी रहेगा। जीवन की कभी मृत्यु नहीं होती। मृत्यु तो रूप और चोले की होती है। वही तो परिवर्तन है। कोई साधक शिखर तक की यात्रा कर ले, सिद्धत्व की भी यात्रा कर ले, तब भी जीवन तो सिद्धत्व के शिखर पर ही रहता है। सिद्धि पाने का, मुक्ति पाने का अर्थ इतना ही है कि जिंदगी जन्म और मृत्यु की धूप-छाँह से मुक्त हो गई। धूप-छाँह के खेल से, द्वेष की दुर्गंध और राग की सुगंध के वातावरण के बीच से व्यक्ति को जहाँ मुक्ति मिल जाती है, वहीं व्यक्ति की जिंदगी में 'जीवन' नाम का तत्त्व आत्मसात् होता है। वहाँ केवल पाप से ही नहीं, अपितु पुण्य से भी मुक्ति मिल जाती है। वहाँ हमें सत्-चित्त-आनंद का अनुभव प्राप्त होता है।

जीवन की साधना और साधु-दृष्टि यही है कि व्यक्ति पुण्यातीत हो जाए। महावीर की दृष्टि में यही साधना है। जो धर्म हमें पाप ही नहीं, पुण्य से भी बाहर ले जाए, वही कर्म हमारे लिए साधना और सिद्धि का कर्म है। जीवन में जो छोटी-छोटी घटनाएँ घटती हैं, उनसे भी असीम के संकेत पा लेना व्यक्ति की सबसे बड़ी बुद्धिमानी

है। बुद्धिमत्ता की पहचान भी यही है कि जो क्षुद्र में भी विराट् की छाँह देख ले।

जीवन तो छोटी-छोटी घटनाओं से ही परवान चढ़ता है। जीवन की प्रयोगशाला में होने वाले आविष्कार, पाए जाने वाले अनुभव ही तो जिंदगी के पाठ हैं, उपलब्धि हैं। उपलब्धि तो तभी बनती है, जब हम जीवन में अनुभव बटोरें, उन्हें गूँथें, उनकी माला पिरोएँ। अनुभव तो हर आदमी बटोरता है, किंतु अनुभव पाने के बाद भी उस आदमी के अनुभव बिखरे ही रहते हैं, जिनसे वह उनकी माला नहीं बना पाता। ऐसे आदमी से उसके जीवन का निचोड़ पूछो, तो वह एकाएक उत्तर ही नहीं दे पाएगा। आदमी की उम्र चाहे पच्चीस हो या पचास, यहाँ उम्र का तो महत्त्व ही नहीं है। अनुभव का निचोड़ क्या है? इसका जवाब देने में बहुत समय लग जाएगा उसे। अनुभव तो सभी बटोरते हैं। बुद्धिमान तो वह है, जो अनुभवों को किसी सूत्र में पिरोए।

अनुभव फूलों की तरह होते हैं। बगीचे में आप गए। वहाँ विभिन्न तरह के फूल खिले हुए हैं। इन फूलों को एकत्र कर लिया, तो माला बन गई। जिंदगी के बगीचे में भी हजारों तरह के फूल खिलते हैं। इन्हें एकत्र नहीं करोगे, तो वे पड़े-पड़े सूख जाएँगे। मूल बात तो यही है कि अनुभव बटोरोगे।

आदमी के अनुभव उसकी बोधि और मुक्ति का कारण इसलिए नहीं बन पाते, क्योंकि आदमी उन अनुभवों से शिक्षा नहीं ले पाता। किसी एक धागे में उसने उन्हें पिरोया नहीं है; इसलिए वे अनुभव खाली ही रह गए और उनका उपयोग नहीं हो पाया।

आदमी तीन तरह के होते हैं। पहले तो वे, जो अनुभव तो करते हैं, मगर न तो उन अनुभवों से कुछ सीखते हैं और न ही अनुभव बटोरते हैं। ऐसे लोग अनुभव पाने के बाद भी कोरे ही रह जाते हैं। बुद्धि तो सबके पास होती है, मगर ऐसे लोग विरले ही हैं जो उसका उपयोग करते हैं। बुद्धू एक तो वह है जो बुद्धिहीन है। दूसरा वह, जिसके पास बुद्धि तो है, मगर वह उसका उपयोग नहीं करता।

मैं चौक में रोजाना सुबह देखता हूँ कि एक आदमी रोज सुबह दो घंटे तक भाषण देता है। वह प्रोफेसर और पंडित से भी अच्छा भाषण देता है, मगर उसका कोई मतलब नहीं है क्योंकि उसे पता ही नहीं है कि वह क्या बोल रहा है। बुद्धि का प्रयोग तो पागल भी करता है, मगर उसका सही उपयोग तभी कहलाएगा, जब बुद्धि सही मार्ग पर नियोजित हो। इस मायने में तो हम सब बुद्धू ही कहलाएँगे, क्योंकि बुद्धि का उपयोग किया, अनुभव भी बटोरे, मगर आज यदि कोई हमसे जीवन का उपसंहार पूछ ले, तो हम चुप हो बैठेंगे।

जीवन में छोटी-छोटी घटनाएँ तो खूब घटती हैं, पर जाग्रत वही है जो छोटी-

छोटी घटनाओं से भी विराट् तत्त्व के आत्म-सूत्र पा लेता है। जरा कल्पना करें, जिन-जिन साधकों को बोध की प्राप्ति में, संबोधि की प्राप्ति में अनुभूति हुई, वे कैसे रहे होंगे? जो काम कोई बुद्ध-पुरुष न कर सका होगा, वही काम जीवन में घटने वाली छोटी-सी घटना कर देती है। यही तो जीवन की विशेषता है। जीवन के चारों तरफ सत्य बिखरे पड़े हैं और उनमें वेद लिखे हुए हैं।

जीवन को समझने के लिए किसी वेद या उपनिषद् को पढ़ने के बजाय केवल जीवन और जगत् को ठीक-ठीक देखने की आदत डाल लें। जीवन में घटने वाली घटनाओं को समझने की मानसिकता जरूरी है। जिसे महावीर सम्यक् दृष्टि कहते हैं, बुद्ध उसे सम्यक् स्मृति कहते हैं। वही तो मौलिक चीज है। ठीक-ठीक देखने की सजगता बन जाए, तो सागर के पास जाने की जरूरत ही नहीं है। हर बूँद में हमें सागर के ही दर्शन होंगे। जीवन में होने वाली घटनाओं से, जीवन में पाए जाने वाले अनुभवों से वह व्यक्ति बूँद में भी अपने पास सागर पाएगा। वह अपने चारों ओर वेद लिखा हुआ पाएगा। वह व्यक्ति सत्य को अपने चारों ओर बिखरा हुआ पाएगा।

सत्य की साधना के लिए, जीवन की मुक्ति के लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं है। कहीं जाकर पद्मासन लगाने की भी जरूरत नहीं है। साँसों को रोककर तपस्या करने की जरूरत भी नहीं है। समाधि का मतलब यह कभी नहीं होता कि कहीं पर जाकर चार-पाँच घंटे आँखें बंद करके बैठ जाएँ।

साइबेरिया में सफेद भालू होते हैं। वे दुनिया में 'आश्चर्य' गिने जाते हैं। जब बर्फ पड़ती है, तो वे भालू जमीन के भीतर चले जाते हैं। उनके चारों तरफ बर्फ ही बर्फ ढंक जाती है। वे भालू छः-छः महीने अपनी साँसें रोके रखते हैं। पशुओं में यह सर्वाधिक गहन प्राणायाम है, गहन समाधि है। लेकिन मैं इसे समाधि नहीं कहूँगा, क्योंकि यदि छः माह तक साँसें रोकना ही समाधि है, तो वे भालू सबसे बड़े समाधिस्थ कहलाएँगे।

आपने देखा होगा, तालाब में जब पानी कम हो जाता है, तो मेंढक अपने बिलों में चले जाते हैं और भोजन भी नहीं करते। एक दुबकी हुई चेतना में वे जमीन में दबे पड़े रहते हैं। जैसे ही वर्षा होती है, उनकी टर्-टर् सुनाई देने लगती है। वे चार महीने जमीन में दबे रहे, मगर वह समाधि नहीं कहलाती।

समाधि का अर्थ यह है कि आप होशपूर्वक अपने में विराजमान हो जाएँ। यह मत समझना कि समाधि धारण करने से कोई देवता आपके पास आएँगे और आपकी आरती उतारेंगे। समाधि का रहस्य यह है कि आप कितने होश में हैं और आप अपने भीतर कितने अधिक विराजमान हैं। केवल बाहरी आवरण को रँगना समाधि नहीं है। असली समाधि तो तब होगी, जब अपने मन को रँग लोगे। 'मन न रंगा, रंगाए जोगी

कपड़ा।' अगर भीतर से रँग चुके हो, तो बाहर से रँगना गौण हो जाता है। असली चीज तो भीतर से रँगना है। आदमी भीतर से तभी रँग पाता है, जब वह जीवन में घटने वाले छोटे-छोटे अनुभवों से कुछ सीखता और समझता चला जाए।

एक साधक हुए हैं - 'च्वान सू'। वे बड़े गहरे चीनी साधक हुए हैं। च्वान सू एक बार अपने शिष्यों के साथ गुजर रहे थे। रास्ते में श्मशान पड़ा। च्वान सू को ठोकर लगी। नीचे झुककर देखा, तो एक हड्डी थी। वह किसी की खोपड़ी थी। उन्होंने खोपड़ी को देखा और मुस्करा दिए। उन्होंने झुककर खोपड़ी को उठाया, उसे चूमा और रवाना हो गए। उनके शिष्य हैरान। गुरुजी को यह क्या हो गया ? मरघट में पड़ी हड्डी क्यों उठाई ? एक शिष्य ने हिम्मत की। पूछा कि यह क्या माजरा है ? आपने खोपड़ी को प्रणाम क्यों किया ?

च्वान सू पहले तो मुस्कराए। फिर बोलने लगे, जब मुझे ठोकर लगी, तो तत्काल इस खोपड़ी पर मेरी नजर न पड़ी और मेरे अंतर्मन में झंकार हुई। मुझे विचार आया कि 'च्वान सू! तेरी खोपड़ी की भी यही हालत होने वाली है।' यह खोपड़ी भी किसी साधारण आदमी की होती तो और बात थी, मगर यह खोपड़ी तो चीन के सम्राट् की थी। जब एक सम्राट् की खोपड़ी को आम आदमी ठोकर मार सकता है, तो जरा सोचो, अपनी स्वयं की खोपड़ी का क्या हश्र होगा ! मैंने इसीलिए इसे प्रणाम किया कि च्वान सू! तेरी भी यही हालत होने वाली है। इस खोपड़ी ने मुझे अनित्यता और अशरण-स्थिति का अहसास कराया है।

कहते हैं, च्वान सू ने उस खोपड़ी को उस दिन के बाद हमेशा अपने पास रखा। लोग पूछते तो वे कहते - 'यह खोपड़ी मेरी गुरु है। इस खोपड़ी को देखता हूँ तो मुझे यह बोध होता है कि मेरी हालत भी एक दिन ऐसी ही होने वाली है। इसने मुझे प्रेरणा दी है। इसलिए यह मेरी गुरु है।'

यह घटना तो केवल प्रतीक है। असल में मैं कहना यह चाहता हूँ कि जीवन में जो कुछ घटता है, आदमी उससे सीखे। आदमी अपने ही नहीं, अपितु दूसरों के अनुभवों से भी सीखे। तुम महान् पुरुषों के अनुभवों को चुराओ। मैंने जीसस से प्रेम चुराया है, कृष्ण से कर्मयोग, सुकरात से सत्य, राम से मर्यादा और बुद्ध से उनका मध्यम मार्ग। तुम भी कुछ अच्छी चीजें अपना लो। एक आदमी तो वह होता है जो अपने अनुभव बेकार जाने देता है। दूसरा वह है जो अनुभव बटोरता है और उनकी माला बनाता है। तीसरा वह है जो बुद्धि से काम करता है। मैं ऐसे आदमी को प्रज्ञावान मानता हूँ, जो बुद्धि से भी परे चलता है। असल में फूलों को बटोरना जरूरी है ताकि उनकी माला बनाई जा सके अन्यथा फूल तो मुरझाने वाले हैं। प्रज्ञावान तो वह है, जो मुरझाने से पहले ही उनकी माला बना लेता है। फूल मुरझाने से पहले ही

वह सार तत्त्व को पा लेता है। फूलों का सार तो इत्र है। जिसने इत्र बटोर लिया, उसने ज्ञान पा लिया। जिसने केवल फूल ही बटोरे, वह अंधेरे में ही रहा। उसने सार तो छोड़ ही दिया। अनुभव बटोरना ही काफी नहीं है, अपितु उनसे सार तत्त्व भी निकालना जरूरी है। जिसने सार पा लिया, उसने जीवन का वास्तविक मूल्य पा लिया।

दुनिया भर का स्वाध्याय-अध्ययन करने के बाद, पांडित्य पाने के बाद भी लगता है कि जीवन में मौलिकता यही है कि आदमी अपने चारों तरफ बिखरे सत्त्यों को भी समझे। यदि भगवान पुकारेंगे, तो रणभेरी तो बज उठेगी, मगर उस रणभेरी को वही समझ सकेगा, जो सार तत्त्व पाने की क्षमता रखता होगा।

शास्त्रों में 'वज्ररेख' नामक एक हाथी का जिक्र आता है। यह हाथी काफी बलवान था। सौ वीर योद्धा भी उसके आगे नहीं टिक सकते थे। वह कोशल नरेश का हाथी था। अनेक युद्धों में उसने कौशल दिखाया था। एक सीमा के बाद तो सभी बूढ़े होते हैं। किसी बूढ़े व्यक्ति को लाठी का सहारा लेकर चलते देखकर उस पर हँसना मत। किसी की अर्थी देखकर दया मत खाना। हमें तो अपने भीतर जागना है। शाम ढल गई है। नींद पूरी हो गई है। एक दिन तो ऐसा भी आएगा, जब जीवन के चारों ओर अंधकार प्रभावी हो जाएगा।

जिसे आप मौत कहते हैं, वह यही अंधकार है। यह अंधकार रोज-ब-रोज आता है और एक दिन आदमी महा-अंधकार में डूब जाता है। वह हाथी भी अब बूढ़ा हो चला था। उसकी हालत देखकर हर व्यक्ति सोचने लगा कि अब यह बूढ़ा हो गया है। उस हाथी के प्रति सब लोगों के मन में सम्मान था। वह हाथी भी बड़ा जीवट वाला था। एक दिन वज्ररेख घूमते-घूमते शहर के बाहर एक तालाब के किनारे पहुंच गया।

तालाब में पानी काफी कम हो गया था और दलदल-सा बन गया था। बुढ़ापे के कारण हाथी की आँखें भी कमजोर हो चुकी थीं। उसने पानी पीने के लिए कदम आगे बढ़ाए, तो वह दलदल में फँस गया। वह दलदल से निकलने का जितना प्रयास करता, उतना ही और अधिक अंदर धँसता जाता। लोग एकत्र होने लगे। उसे बाहर निकालने के कई प्रयास भी किए गए, पर सभी लोग भरी आँखों से हाथी को मरता हुआ देखने लगे। उस बलवान हाथी का ऐसा अंत उन्हें अच्छा नहीं लग रहा था। अचानक उन्हें अपने पुराने महावत की याद आई। शायद वह कोई रास्ता सुझा दे।

महावत आया। वह हाथी को देख मुस्कराया और बोला — 'आप लोग इस हाथी को नहीं जानते।' उसने तत्काल आदेश दिया कि रणभेरी बजाई जाए। इधर रणभेरी बजी, उधर हाथी के बेजान-से शरीर में हलचल मची। हाथी ने अपनी सारी

शक्ति एकत्र की और दलदल से बाहर निकल आया।

महावीर इसे संबोधि कहते हैं। बुद्ध इसे स्मृति कहते हैं। यहाँ स्मृति ही आत्म-स्मृति बन जाती है। रणभेरी सत्संग का काम कर जाती है। जहाँ संबोधि है, वहीं अनुभव का सार मिल गया समझो। आत्म-स्मरण की रणभेरी बजते ही सत्संग की रणभेरी भी बजने लगती है और व्यक्ति अपने आपको पहचान लेता है। एक रणभेरी की आवाज सुनकर हाथी बाहर निकल आया था। रणभेरी तो बजा रहा हूँ, मगर तुम अभी तक सही योद्धा ही नहीं बन पाए हो। इसलिए तुम रणभेरी नहीं समझ पाओगे, तुम भगवान को कैसे पा सकोगे ?

जो आदमी भगवान को पाने के बाद भी उसका अनुभव नहीं करता, वह दुनिया का सबसे बड़ा बेवकूफ है। अपने आपको संभालो। कोई कितना भी बलवान हो, उसका अंतिम नतीजा तो यही होने वाला है। याद करो। स्मृति को जीवित करो। रणभेरी बज रही है। सत्संग की रणभेरी। उसे समझने की चेष्टा करो। अपने आपको पूछो, मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा क्या होगा? जीवन का मूल उद्देश्य क्या है? ये प्रश्न कभी एकांत में अपने आपसे पूछो। जीवन का अनुभव क्या बटोरा? सार क्या है? पैदा हुए वैसे ही मर गए, तो दुनिया में आने का औचित्य क्या रहा?

जिंदगी एक नदिया है। बहती जा रही है। बहते-बहते सागर में मिल जाएगी। विलीन होने से पूर्व अपने आपको पहचान लो। मेरा स्वरूप क्या था? कहाँ से आया था? मुझे किससे संबंध रखना है? किससे प्रतिकार करना है?

ये कोरे प्रश्न नहीं हैं, बल्कि स्वयं के प्रति जिज्ञासा है। अपने आप से यह पूछना कि 'मैं कौन हूँ', मन का अध्यात्म में विलय है। मैं कौन हूँ, कौन हूँ मैं, मैं कौन हूँ - अपने आपसे ही यह पूछताछ करनी है। मैं कौन हूँ, इसका उत्तर कोई और न दे पाएगा। 'मैं' ही बता पाता है 'मैं' का उत्तर। इस प्रश्न को, इस जिज्ञासा को अपना मंत्र बना लो और मंत्र को अपने अंतरंग में शांति से गहरे तक उतरने दो। ऐसा नहीं कि एक सौ आठ बार गुना-जपा और मालाओं की दस-बीस की गिनती में लग गए। और मंत्र शाब्दिक होते हैं, परंतु यह मंत्र तो बोधपरक है। एक गहरे बोध में उतरना है। शून्य अवतरित होगा और जीवन के अंतर्झरोखों से समाधान की किरण फूटेगी, जिसके प्रकाश में हम जानेंगे 'मैं' को, अपने-आपको, अस्तित्व के स्वरूप को।

जो 'मैं' को जानने में लगा है, वह 'पर' का वियोगी है। अपने आपको छोड़कर शेष सारे पदार्थ उसके लिए पराए हो जाते हैं। गुरु, ग्रंथ, मूर्ति और धर्म भी। यहाँ तक कि अपनी देह भी उसे अपने से अलग महसूस होने लग जाती है। जीवन

के धरातल पर कोई अनुकूल हो या प्रतिकूल, साधक शोक-रहित और ज्योतिर्मय प्रवृत्तियों में ही रुचि लेता है। उसके जीवन-द्वार पर दस्तक सभी तरह की होती है, मगर अपने अंतर-गृह में वह उन्हीं को प्रविष्ट होने देता है जिनसे उसकी निर्लिप्तता और ज्योतिर्मयता को खतरा न पहुँचे, वरन् और भी अधिक सहयोग/बढ़ावा मिले। पतंजलि कहते हैं – ‘विशोका वा ज्योतिष्मती’। मन को स्थित करने के लिए यह भी एक राजमार्ग है कि व्यक्ति शोकरहित और प्रकाशमय प्रवृत्तियों में लगा रहे और उन्हीं का अनुभव करे। यह अनुभूति मन को स्थिर और निर्मल करेगी। ‘मैं कौन हूँ’ – यह जिज्ञासा प्रकाशमय प्रवृत्ति की प्राथमिक पहल है।

मूल बात तो यही है कि तुम अपने आप में डूबो। यह सोचो कि जीवन का मूल स्रोत क्या है? इसी से सम्यक् दृष्टि उजागर होगी। सम्यक् दर्शन आत्मसात् करने का और कोई उपाय नहीं है। एक साधे सब सधे। ‘एक’ सध गया, तो सभी कुछ सध गया। सब साधा, पर वह एक न सधा, तो जीवन की साधना अधूरी ही कहलाएगी। कहने को महावीर के पास संपदा थी, बुद्ध भी उतने ही वैभवशाली थे, पर फिर भी वे नई संपदा के लिये निकल पड़े। अगर पैसा और पत्नी ही सुख के, शांति के, सत्य के परम आधार होते तो उन्हें किसी पागल कुत्ते ने थोड़े ही काटा था कि सब-कुछ छोड़-छाड़कर निकल पड़े। पत्नी को जीया। नारी का सान्निध्य पाया। उससे उन्हें सुख भी मिला होगा। संतान भी हुई। उसका माधुर्य भी उन्हें मिला, पर फिर भी वे तृप्त न हो पाए। उनकी आत्मा में अभीप्सा जग पड़ी। वे जीवन के किसी और प्रकाश को पाने के लिए निकल पड़े। अभीप्सा गहरी थी। अतः उसका परिणाम भी हाथ लगा। निश्चय ही पूर्व में भोगे गए भोगों की उन्हें याद भी आई होगी। पत्नी, बच्चे और वैभव भी उनकी स्मृति में उभर-उभर कर आए होंगे, पर उन्होंने अपनी वृत्ति, अपनी मानसिकता निरन्तर उस ओर बनाए रखी, जिसे कि ‘विशोका वा ज्योतिष्मती’ कहा गया।

जहाँ अभाव का शोक न हो, वही अवस्था विशोका कहलाती है। जहाँ मन की वृत्ति प्रकाशपूरित रहती है, स्वच्छ-निर्मल रहती है, उन्नत लक्ष्य की ओर रहती है, वही ज्योतिष्मती कहलाती है। व्यक्ति राग और द्वेष, मोह और शोक – दोनों द्वंद्वों से ऊपर उठे। यह एक दूभर साधना है। कहना सरल है, किंतु इस स्थिति को जीना कठिन है। संसार के सबसे कठिन कार्यों में यह भी एक कार्य है – अपने आपको जानना, अपने आपको मुक्त करना। और तो और, लोगों से गुस्सा तक तो छूट नहीं पाता और सागर लांघने चले हैं संसार का।

प्रतिकूल कुछ न हो, तो सभी ठीक है। सब कुछ शांत, सौम्य-मधुर है, थोड़ा-सा प्रतिकूल हुआ कि आँख-नाक से हवा पंक्चर होने लगती है। पूर्व अनुभवों

को बटोरो। उनका मनन करो कि पहले भी गुस्सा किया था, आखिर क्या मिला उससे ? स्त्री के साथ या पुरुष के साथ पहले भी जिए, तो तृष्णा तब थी, आज भी वही है। जब पहले तृप्ति न हुई, तो अब कौन-सी आ जाएगी ? पहले के गुस्से से कोई गढ़ नहीं जीत लिया था। अब कौन-सा जीत जाओगे ? जीवन का हर दिन बीते हुए दिन की पुनरावृत्ति भर होता है। जीवन महज एक पिष्टपेषण है। पीसे हुए को ही पीसते रहना है।

मुक्ति तो तभी मिलती है जब तुम मुक्त होना चाहो, वरना बंधन तो हैं ही। बंधन जिस दिन तुम्हें बंधन लगेंगे, उसी दिन मुक्ति की पहली किरण हृदय में उतर आएगी। जीवन में जागरण का शंखनाद ऐसे ही होता है। मैं मानता हूँ, अपन सभी लोग सोए हुए हैं। कल भी थे, आज भी हैं, कल भी रहेंगे। तब तक रहेंगे, जब तक स्वतः ही अंतर्प्रेरणा न जग जाए। मुझे सुनकर कुछ स्फुरण तो होगी, पर परिपूर्णता तभी आ पाएगी जब स्वयं में स्वतः प्यास की लौ उठे। मुक्ति की ओर चार कदम उठें। महानताएँ ऐसे लोगों को ही हासिल होती हैं। शेष तो सब मूर्च्छा की मधुशाला में डूबे हैं। बोध जगो, तो बात बने। जीवन में चाहिए जागरूकता, आत्म-जागरूकता। हर पल, हर क्षण। बस, वही एक पर्याप्त है। उसी से महाजीवन तथा महासमाधि के सभी द्वार खुलते हैं।



साधना का आदर्श : वीतराग

संसार में रहना बुरा नहीं है;
बुरा है स्वयं में संसार को बसा लेना।



एक फकीर था। बड़ा औलिया। उसके चेहरे पर हमेशा एक रहस्यभरी मुस्कान रहती थी। उसकी एक आदत थी चोरी करने की। चोरियाँ भी वह कोई हजारों-लाखों की नहीं करता। वह चोरी करता घिसे-टूटे झाड़ू की, अधजली लकड़ियों की, माटी के ठीकरो की। वह अब तक कई बार जेल की हवा खा चुका था, फिर भी उसकी चोरी की टेव न गई। लोग उसका सम्मान भी करते थे, किंतु उसकी चोरी की आदत से नाराज भी थे। एक अचौर्य-संत द्वारा होने वाली चोरियाँ भी उनके लिए एक पहेली बन गई थीं।

एक दिन फकीर के किसी हमदर्द ने उससे कहा, “महाराज ! आपका बार-बार चोरी करना और जेल जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। आपको जिन चीजों की जरूरत हो, मुझे कहें। मैं उनकी पूर्ति करूँगा। मगर मेहरबानी कर आप चोरी न करें।”

फकीर हँसा, एक रहस्य-भरे ठहाके के साथ। फकीर ने कहा कि यह संभव नहीं है कि मैं चोरी न करूँ। हमदर्द ने पूछा, ‘आखिर क्यों?’ फकीर ने गंभीर होकर कहा, ‘इसलिए ताकि मैं कारागृहों में जा सकूँ। मुझे चीजों की आवश्यकता है, इसलिए मैं चोरी नहीं करता। मैं तो कारागृहों में जाने के लिए चोरी करता हूँ। वहाँ हजारों बंदी हैं। मैं उन्हें उस संदेश का सम्राट बनाना चाहता हूँ, जिससे वे अपने बंधन काट सकें।’

मैं भी आना चाहता हूँ आपके कारागृह में। यहाँ सभी बंधे हुए हैं। सभी की ग्रंथियाँ हैं। क्या आप मुझे अनुमति देंगे अपने भीतर के कारागृह में आने की ?

सारा संसार एक कारागृह है। आदमी इस कारागृह में जंजीरों से जकड़ा है, बेड़ियों से बँधा है। मनुष्य की नींद इतनी गहरी है कि वह अपने बंधनों को बंधन नहीं मान रहा है। घर की तो याद आती ही नहीं है। कारागृह को ही घर मान बैठा है। देख नहीं रहे

हो कैदियों को ? उन्होंने कारागृह के प्रकोष्ठों को भी फूलों और चित्रों से सजा रखा है। कारागृह से मुक्त तो वही हो सकता है, जो कारागृह को कारागृह माने।

बंधन को आनंद मानने वाला व्यक्ति प्रबुद्ध नहीं, वरन् पिंजरे का पंछी है। मुक्ति के गीत तो तब कहीं से सुनाई देते हैं, जब सीखचों को आत्म-स्वतंत्रता का बाधक और बंधन माना जाता है। उन लोगों को क्या कहेंगे जिन्हें बीस वर्ष जेल में ही रहने के बाद जब मुक्त किया जाता है, तो वे उलटा जेल में ही रहना चाहते हैं। जो प्रेम घर के प्रति होना चाहिए था, वह प्रेम कारागृह के प्रति हो गया। जो अपना संपूर्ण ध्यान अपनी स्वतंत्रता पर केंद्रित करता है, वही आजाद हो सकता है। बंधन उसी के गिरते हैं जो मुक्त होता है। ऐसे ही लोग कहलाते हैं – निर्ग्रथ और निर्बंध।

स्वतंत्रता के लिए श्रम तो सभी करते हैं, किंतु जरूरत है उस बोधिलाभ की, जो हमें बंधनों को समझा सके।

राजा उदायन ने चंडप्रद्योत से युद्ध किया। चंडप्रद्योत हार गया। उसे बंदी बनाकर जंजीरों से जकड़ लिया गया। उदायन की यह विशेषता रही कि उसने प्रद्योत को उन जंजीरों से बाँधा, जो सोने की थीं। भले ही उदायन को इस बात की प्रसन्नता हो कि उसने सोने की जंजीरों से बाँधकर प्रद्योत को कुछ सम्मान दिया है, पर जिसने बंधन को बंधन मान लिया, चाहे वह लोहे की जंजीर का हो या सोने की, वह उससे मुक्त होना ही चाहेगा। राजा कभी बंदी नहीं होता और जो बंदी होता है, वह स्वयं को कभी सम्राट् नहीं समझाता। सम्राट् तो वह है जो स्वतंत्र होता है, स्वयं की अहमियत का स्वामी होता है।

हर मनुष्य सम्राट् है। यदि नहीं है, तो वह हो सकता है। हर कोई सम्राट् बने, यही तो हमारा प्रयास है।

हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने बंधनों को समझे और फिर उन्हें गिराए। बंधन को समझ जाने वाला व्यक्ति ही बंधन-मुक्ति के लिए अपने प्रयासों के पंख खोलता है। बंधन यदि लोहे और सोने की जंजीरों के होते, तो शायद हम उन्हें बहुत जल्दी देख समझ लेते। बंधन तो भीतर के हैं। भीतर के बंधनों को समझने के लिए भीतर की दृष्टि चाहिए। यह आत्म-क्रांति है।

इंद्रियाँ बाहर के बंधनों को देखती और समझती हैं। इंद्रिय-संलग्नता से दो इंच आगे बढ़ो, तभी समझ पाओगे अपने बंधनों को।

अंतर्यात्रा आध्यात्मिक सफर है। अंतर्यात्रा के लिए अतींद्रिय होना अनिवार्य है। जरा एक विहंगम दृष्टि तो दौड़ाओ अपने बंधनों पर, बंधनों पर आ चुके बंधनों पर। गिनना मुश्किल होगा उन बंधनों को। घास के ढेर में दबी-गुमी सुई को ढूँढ़ना कठिन जरूर होगा, पर यह कार्य असंभव नहीं है। मकान तुम पर ढह गया, इसका मतलब यह तो नहीं कि तुम मकान से गायब हो गए। मलबे में कहीं फँसे हो तुम।

स्वयं के सामर्थ्य से यदि बाहर निकल आओ तो बलिहारी है। अन्यथा सहयोग लो, जीवन के लिए, आत्म-स्वतंत्रता के लिए।

जहाज भटक जरूर गया है। मगर वह देखो, बड़ी दूरी पर कोई मशाल जल रही है। रोशनी की मशाल बनकर ले चलो स्वयं को उसी प्रकाश-पुंज की ओर। मन के सागर में हमने जीवन की नैया उतार रखी है। नाविक तुम स्वयं हो। अंतर्बोधि और अंतर्दृष्टि की पतवारों अपने हाथ में थामो। जो मशाल दिखाई दे रही है, वहीं है तुम्हारी प्रगति, वहीं है तुम्हारी प्रतिष्ठा। भँवर-जाल को देखकर घबराओ मत, घड़ियाल/मगरमच्छों से काँपो मत। मौत भले ही सामने खड़ी हो, पर रोओ मत। घड़ियाली आँसू गिराने से कुछ नहीं होगा। जीवन के लिए तो कुछ करना ही होगा। जो बिदक गया, वह खत्म हो गया और जो साहसपूर्वक चल पड़ा, उसने जिनत्व और बुद्धत्व की जोखिम भरी यात्रा पूरी कर ली। हमें चलना है पिंजरे से बाहर आकाश में, नीड़ से विराट् में, राग से विराग में और विराग से वीतराग में। स्वयं के रामात्मक बंधनों को समझो और अपने चित्त को जीवन के वीतराग-विज्ञान पर ध्यानस्थ करो।

पतंजलि कहते हैं – ‘वीतराग विषयम् वा चित्तम्’ – वह चित्त स्थित हो जाता है, जो वीतराग को अपना विषय बनाता है।

मनुष्य का मंदिर बना रहना चाहिए स्वयं के लिए। मनुष्य के मंदिर गिरें और राग-द्वेष के खंडहर उभरें, यह तो जीवन के नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक मापदंडों से पलायन है। मनुष्य, भगवान का मंदिर है। यह किसी से चिपकने और किसी से टूटने के लिए नहीं है। यह तो परमात्मा के बसने के लिए है, परमात्मा बने रहने के लिए है।

राग का अर्थ है चिपकना-चोंटना, जैसे चींचड़ गाय के थनों से चोंटता है। राग और प्रेम में फर्क है। प्रेम चोंटना नहीं है, बल्कि दो फूलों का परस्पर मिलना है। अपने मन के पंजों से किसी से चोंट जाना राग है। द्वेष टूटना है, न केवल टूटना वरन् खौलना भी है। राग खतरनाक है, पर द्वेष खौफनाक है। राग के बजाय द्वेष से मुक्त होना सरल है। राग वीतरागता में बदले, यह कोई जरूरी नहीं है। राग का विलय द्वेष में होता है। द्वेष से राग समाप्त नहीं होता, वरन् राग द्वेष की परछाई बन जाता है।

राग सुख का अनुयायी होता है। जिससे सुख मिले, सुख का अहसास होता है, राग का संबंध उससे है। सुख प्राप्त करने की इच्छा राग है। व्यक्ति से, वस्तु से, निमित्त से, परिस्थिति से, जिससे भी सुख मिल सकता है, उसकी कामना का नाम राग है। द्वेष राग के विपरीत है। दुःख का अनुभव होने पर दूसरे के प्रति पैदा होने वाली घृणा, नफरत, आक्रोश ही द्वेष है। सुख-दुःख धूप-छाँह की तरह है। सुख के निमित्त ही कभी दुःख के निमित्त बन जाते हैं। प्रेम के निमित्त ही कभी क्रोध और खीज के निमित्त हो जाते हैं। यानी राग ही कभी द्वेष में परिणत हो जाता है, तो कभी द्वेष ही राग में बदल जाता है। कल तक जो बेगाने लगते थे, अनजाने लगते थे,

आज वे ही जनम-जनम के मीत हो चुके हैं अथवा जो कल तक लँगोटिया यार थे, आज वे ही फूटी आँख नहीं सुहाते। यह सब अंतर्द्वंद्व है राग-द्वेष का।

यह भी मजे की बात है कि राग के विपरीत विराग है। विराग का अर्थ है राग से अलग होना। विराग राग से ही बना है। विद्वेष विराग की तरह नहीं है। विराग का अर्थ राग से अलग होना है, पर विद्वेष का अर्थ द्वेष से अलग होना नहीं है। विद्वेष का अर्थ है विशेष द्वेष, जबकि विराग का अर्थ विशेष राग नहीं है। यह शब्द-व्यवस्था भी गौर करने जैसी है। हम चलें राग से विराग की ओर और द्वेष से वीतद्वेष की ओर।

ध्यान रखें, विराग राग के विपरीत है। विराग राग से मुक्त होना नहीं है। वैरागी राग के विपरीत तो हो जाता है, किंतु बोधपूर्वक नहीं, द्वेषपूर्वक। चाहे किसी से राग करो या किसी से द्वेष, बंधन की बेड़ियाँ तो दोनों में ही होंगी। चित्तवृत्तियों से ऊपर उठने के लिए न तो राग से द्वेष हो और न ही द्वेष में राग हो। वीतराग न तो राग से द्वेष करता है और न द्वेष में राग।

वीतराग तो जीवन की पराकाष्ठा है। विराग, राग और वीतराग दोनों के बीच का पैडलम है। वीतराग होने का अर्थ है राग से ऊपर उठना। राग के विपरीत होना अलग बात है, किंतु राग से ऊपर उठ जाना द्वेष से भी मुक्त हो जाना है। इसलिए न तो किसी से चोंटो और न ही किसी से वैमनस्य रखो। ऊपर उठना ही शिखर-यात्रा है। पत्तियाँ रहें तो रहें, काँटे रहें तो रहें, उनसे झगड़ा कैसा? फूल का काम केवल खुद को खिलाना है। काँटों की ही खबर रखोगे तो काँटो से बिंध जाओगे। फूल खिलता है निजता से, निजत्व के बोध से। ऊपर उठो और खिलो। ध्यान केंद्रित हो वीतराग पर। न राग, न द्वेष, यह है वीतराग।

वीतराग का अर्थ है राग-द्वेष पर विजय। जीवन के दो प्रबल शत्रु हैं – राग और द्वेष। राग दो कारणों से बढ़ता है – एक है मूर्च्छा और दूसरा है लोभ। ऐसे ही द्वेष भी दो कारणों से पनपता है – एक है क्रोध और दूसरा है घमंड। राग और द्वेष अपने साथ संसार और दुःख की परंपरा को जोड़े रखते हैं। पशु, मनुष्य और देवता-सभी राग में अनुरक्त हैं। हिरण, स्त्री, सर्प और राजा – इन चारों में राग की मात्रा ज्यादा होती है। एक बार एक रागांध बादशाह ने अपनी बेगम से कहा – ‘प्यारी, मैं तुम्हारे लिए प्राण देने को तैयार हूँ।’ बेगम ने कहा – ‘आप मुझ पर नहीं, मेरे नाज पर, अंदाज पर, चाल पर, जुबान-वाणी पर मरते हैं।’ भला, किसी की जुल्फों का हवा में लहराना भी व्यक्ति को राग-विह्वल कर देता है!

मुझ पर तुम मरते नहीं, मर रहे इन चार पर।

नाज पर, अंदाज पर, रफ्तार पर, गुफ्तार पर॥

तुम न राग में मूर्च्छित बनो और न द्वेष में अंधे। कान में पड़ने वाले शब्दों को न सुनना तो संभव नहीं है, पर तुम उनके प्रति चित्त में राग-द्वेष मत आने दो। आँखों

के सामने आए हुए रूप को न देखना शक्य नहीं है, पर किसी भी रूप के प्रति मन में राग-द्वेष मत आने दो। नाक के पास आए हुए गंध को न सूँघना तो संभव नहीं है, पर सावधान। किसी भी सुगंध के प्रति राग और किसी भी अरुचिकर गंध या दुर्गंध के प्रति मन में राग-द्वेष मत आने दो। जीभ पर आए हुए स्वाद का न लेना शक्य नहीं है, पर उस स्वाद के प्रति राग-द्वेष न हो, यह सजगता जरूरी है।

जीवन में सुखशांति और तनावमुक्ति का कोई गुर चाहिए, तो पतंजलि कहेंगे 'वीतराग विषयम् वा चित्तम्' – चित्त को वीतरागता का मार्ग प्रदान करो।

चित्त की स्थिरता के लिए वीतराग बेहतरीन विषय है। श्रमण-परंपरा ने तो अपना आराध्य भी उसी को चुना है, जो वीतराग है। वह तो तीर्थकरत्व और सिद्धत्व को अनिवार्य शर्त मानता है वीतरागता की। उसके अनुसार वह हर व्यक्ति अमृत-पुरुष है जो वीतराग है।

तुम वीतरागता के देवदार-वृक्ष को अपने घर में भी खिला सकते हो और साधु-संन्यासियों की तरह गृह-मुक्त होकर भी। वीतराग होने की पहल वही कर सकता है जिसने जीवन के द्वार पर मृत्यु को पल-प्रतिपल उतरते हुए देख लिया है तथा जीवन के चारों ओर लगे हुए दुःख-दर्द के घेरे को समझ लिया है।

मृत्यु का दर्शन ही जीवन में संन्यास की क्रांति है। आगे कदम तभी बढ़ाना, जब स्वयं को काँटों में पाओ। यह बोध ही शून्य में छलाँग भरने के लिए बहुत होगा कि घर में आग लगी है और मैं लपटों के व्यूह में फँसा हूँ। आग में हो, तो आग से बाहर कूदो। बाहर सावन है। बरसाती रिमझिम है। सुरक्षा का धरातल है। सब हैं तुम्हारे साथ, पर तुम अपने फूल को उनसे ऊपर ले उठो।

परिवेश खतरनाक नहीं होता। खतरनाक परिवेश में स्वयं का प्रवेश होता है। संसार में रहना बुरा नहीं है। बुरा तो है स्वयं में संसार को बसा लेना। पानी में रहने के कारण कमल की आलोचना नहीं की जा सकती। कमल का सौरभ और सौंदर्य तो तब धूलि-धूसरित होता है, जब कीचड़ उस पर चढ़ जाता है। वीतराग को अपना विषय बना लेने वाला चित्त राग-द्वेष के कर्दम से उपरत हो जाता है। बनें वीतराग, आराध्य ही वीतराग। वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह – यही है मार्ग मुक्ति का, निर्वाण का, अमृत होने का। पहले वीतद्वेष होने की कोशिश हो, किसी से भी द्वेष नहीं करेंगे। फिर वीतराग, वीतमोह, राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर लो, तो मोह पर विजय स्वतः ही हो जाएगी। चित्त को विषय मिले वीतराग का, वीतद्वेष का। उसी को अपने ध्यान में लें, उसी को अपने अनुचितन में। अंतर्मन में वीतरागता को मूल्य देना ही वीतराग होने की पहली सीढ़ी है।



तुर्या : भेद-विज्ञान की पराकाष्ठा

स्वप्न और निद्रा के सहारे अपने अंतर्मन को
पहचानना उनका सार्थक उपयोग है।



महावीर का वक्तव्य है कि मनुष्य अनेक चित्तवान है। चित्त की अनेकता को जानना महावीर की अत्यंत मनोवैज्ञानिक खोज है। चित्त कोषागार है। संस्कारों और स्मृतियों की पर्त-दर-पर्त जमी है वहाँ । विश्व के ग्लोब जैसा ही ग्लोब है उसका। संसार एक है, परंतु देश अनेक हैं। विश्व के नक्शे में इंच-दर-इंच पर अलग-अलग राष्ट्रों की गवाही देने वाली रेखाएँ खींची हुई हैं। चित्त का नक्शा विश्व के नक्शे से भी अधिक विस्तृत है। वर्तमान ही नहीं, अपितु अतीत का समूचा इतिहास भी चित्त के पटल पर उभरता रहता है।

चित्त का अपना समाज और संसार होता है। इसकी अपनी संतानें और पाठशालाएँ होती हैं। न्यायालय और कारागृह भी इसके निजी होते हैं। यदि जन्मान्तर के अतीत को न भी उठाया जाए, सिर्फ वर्तमान के ही पन्ने पलटे जाएँ, तब भी चित्त के विश्वकोश की मोटाई अथवा विशालता को चुनौती नहीं दी जा सकती।

‘चित्त’ तो पुस्तकालय है। पुस्तकालय तो एक है, पर दराजें कई। एक दराज में सैकड़ों पुस्तकें और एक पुस्तक में सैकड़ों पन्ने। पुस्तकें दराजों में दर्ज हैं और दराजें पुस्तकालय में। जीवन और परिवेश के ढेरों सूत्र इसी तरीके से चित्त से जुड़े हुए रहते हैं। जितनों से मिले, जितनों को जाना, चित्त के उतने ही परमाणु सक्रिय हुए। परमाणुओं का क्या, वे तो संख्यातीत/असंख्य हैं।

मनुष्य का चित्त विकीर्ण है। रेगिस्तान के टीलों की तरह है वह। ऊपर से बड़ा सुहावना, पर हरीतिमा के नाम पर बिल्कुल फरस। रेगिस्तान की रेती विकीर्ण ही हुआ करती है। जब तक उसका सही संयोजन न किया जाए, तब तक वह हवाई

झोको के साथ घर-घाट के बीच झूख मारती रहती है। जिंदगी ऐसे ही तो तमाम होती है। जिंदगी पूरी बीत जाती है। सार क्या हाथ लगता है झूख मारने के सिवा ?

चित्त की अनेकता का अर्थ है – वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों की बहुलता। वृत्ति-बहुलता ही चित्त का बिखराव है। चित्त हमारे शरीर की सबसे सूक्ष्मतम किंतु प्रबल ऊर्जा है। 'जाति-स्मरण' का अर्थ है चित्त का बारीकी से वाचन। ऊर्जा बिखराव के लिए नहीं होती, उपयोग और संयोजन के लिए होती है। जो चित्त आज भटक रहा है, यदि उसे सम्यक् दिशा में मोड़ दिया जाए, तो चित्त की प्रखरता हमारे जीवन के ऊर्ध्वारोहण में सर्वाधिक सहकारी बन सकती है।

योग का अर्थ और उद्देश्य चित्त के बिखराव को रोकना है। चित्त के समीकरण का नाम ही योग है। हमें ध्यानयोग से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि हम ऊर्जा के संवाहक हैं। हमें ऊर्जा का स्वामी होना है, उसका गुलाम नहीं। चित्त हमारा अंग है। हम चित्त के आश्रित नहीं हैं। यही तो व्यक्ति की परतंत्रता है कि वह 'आश्रित' के आश्रित हो गया। स्वप्न की उड़ानों के जरिए नींद की खुमारियों में चित्त आठों प्रहर व्यस्त रहता है और मनुष्य है ऐसा, जिसने अपनी संपूर्ण समग्रता उसी की पिछलग्गू बना दी है। यह प्रश्न हर एक के लिए चिंतनीय है कि मनुष्य चित्त का अनुयायी बने या चित्त मनुष्य का।

संबोधि का मतलब है, चित्त और चैतन्य का बोध प्राप्त करना। आत्म-ज्ञान के लिए चित्त का बोध अनिवार्य पहलू है। चित्त को एकाग्र/एकीकृत किया जाना चाहिए। एकाग्रता से ही भीतर की प्रखरता और तेजस्विता आत्मसात् होती है।

सामान्य तौर पर चित्त की संबोधि के लिए हमें चित्त की दो वृत्तियों के प्रति सजग होना चाहिए – एक तो है स्वप्न और दूसरी है निद्रा। सजगता ही स्वप्न और निद्रा की बोधि एवं मुक्ति की आधारशिला है। सजगता जागरण है और जागरण चित्त की उठापटक से उपरत होने का प्रथम और अंतिम द्वार है। मनुष्य जितना अधिक सोया, उतना ही श्मशान में रहा। सपनों में जितनी रातें बिताई, उसने उतना ही भव-भ्रमण किया। वह प्रेतात्मा की तरह हवा में भटकता रहा, किंतु जो जितना जागा, उसने अस्तित्व को उतना ही आत्मसात् कर लिया।

आत्म-जागरण स्वप्न और निद्रा के ज्ञान से अवतरित होता है। चित्त की स्थिरता के लिए योग ने जो मार्ग चुने, उनमें यह भी एक है – 'स्वप्न-निद्राज्ञानालम्बनम् वा' अर्थात् स्वप्न और निद्रा के ज्ञान के सहारे भी चित्त की स्थिति का पता लगाया जा सकता है।

प्रश्न है : स्वप्न क्या है ? स्वप्न अपने आप में एक मानसिक क्रिया है। अर्धनिद्रित

अवस्था में जब हमारी इंद्रियाँ सुप्त होती हैं और मन जाग्रत होता है, उस समय मन विषयों का जो सेवन करता है, उस क्रिया का नाम स्वप्न है। स्वप्न में हम कभी कोई गीत सुनते हैं, कभी कोई रूप देखते हैं, कभी स्वाद और रस का अनुभव करते हैं, कभी कोई फूल सूँघने लगते हैं, कभी किसी को गले लगा बैठते हैं और कभी किसी को चूम बैठते हैं। ये सब चीजें मन-ही-मन होती हैं। ये सब स्वप्न की लीलाएँ हैं।

कुछ दिन पहले एक संत ने किसी के घर पहुँच कर कहा, 'भाई! मैं मंदिर बना रहा हूँ। मुझे रात को देवी ने सपने में आकर कहा कि इस कार्य में सहयोग के लिए मैं तुमसे कहूँ। सो तुम एक लाख का सहयोग दो।'

व्यक्ति चतुर निकला। उसने कहा, 'महाराज! देवी ने जो बात सपने में आकर आपसे कही है, वही आज सपने में मुझे कह दे। मेरे सपने में आकर अगर देवी ने कुछ कहा, तो मैं एक नहीं, दो लाख का सहयोग कर दूँगा।'

मनुष्य सपने के नाम पर सपने का भी दुरुपयोग करने लग जाता है।

स्वप्न स्वयं में एक झूठ है। सत्य तो यह है कि सपनों से बड़ा झूठ और कोई नहीं है, पर मजे की बात यह है कि मनुष्य जितना सच्चा स्वप्न में होता है, उतना कहीं भी और कभी भी नहीं होता। स्वप्न मनुष्य की अभिव्यक्त वासना है। जो चित्त में दबा हुआ है, सपने में वही साकार होता है। स्वप्न चित्त-साक्षात्कार है, दमित की अभिव्यक्ति है।

स्वप्न में जो देखा जाए, चित्त में उसकी संभावना न हो यह नामुमकिन है। खुली आँखों में तो जुबान बोलती है और बंद आँखों में वृत्ति/वासना। एक भूखा आदमी भगवान का सपना नहीं देख सकता। भूखे का हर स्वप्न भोजन और पकवान से जुड़ा रहता है। दिन में दुष्पूर रहने वाली तृष्णा रात को सपने में गले तक पेट भर लेती है। धनवान को धन-सुरक्षा की चिंता रहती है, इसलिए वह चोरों के सपने देखता है। पति के सपने में खुद की पत्नी कभी नहीं आती। कभी पड़ोसिन आती है, तो कभी और कोई। आदमी अपने सपने में पानी की बरसात देखता है, क्योंकि पानी की उसे चाहत है। कुत्ते और बिल्ली कभी पानी की बरसात के सपने नहीं देखते। उनके सपनों में हड्डियों की, माँस की, रोटियों की बरसात होती है। जैसी मन की चाहत होती है, जो कुछ मन में दबा हुआ होता है, वही तो स्वप्न के रूप में उजागर होता है। अतृप्ति का तृप्ति के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही स्वप्न है। स्वप्न दमित हो चुकी भावनों से रूबरू होना है। जिसने मन में कुछ दबाया नहीं, उसे सपने कभी नहीं आ सकते।

मनुष्य बीमार रहता है, सिर्फ तन से ही नहीं, अपितु मन से भी। यदि मन

अस्वस्थ है, तो शरीर की स्वस्थता अपने-आप निढाल हो जाएगी। एक स्वस्थ शरीर की परिकल्पना के लिए मन की स्वस्थता अनिवार्य है। व्यक्ति को मानसिक बीमारियों से मुक्त करने के लिए मन का अध्ययन करना आवश्यक है। मन की नब्ज पकड़ने के लिए स्वप्न से बढ़िया अन्य कोई अचूक साधन नहीं है। स्वप्न मन की ही अभिव्यक्ति है। मन की इस समय क्या स्थिति है, उसके अंतर्भाव क्या हैं, यह जानने के लिए हम यह देखें कि हम स्वप्न में क्या देख रहे हैं।

कहते हैं, मन से बुरा न सोचा जाए। किसी को चाँटा लगाना गलत है, परंतु यही नहीं, मन में चाँटा लगाने का भाव लाना भी गलत है। मैं तो यों कहूँगा कि स्वप्न में भी किसी को चाँटा लगाना, अपराध का बीज बोना है। यदि स्वप्न में किसी को चाँटा लगा दिया, तो एक बात तय है कि बीज का अंकुरण तो हो ही गया है। संभव है, काँटे लग आने में कुछ समय लगे।

बच्चा मन में क्या सोचता है, यह जानने के लिए हर रोज उसे यह पूछो कि आज तुमने क्या सपना देखा ?

बचपन से ही हर बच्चे के स्वप्न का अध्ययन किया जाना चाहिए। न केवल अध्ययन, बल्कि स्वप्न के संकेतों के अनुसार जीवन को भी ढाला जाना चाहिए। यदि बच्चा कहे कि उसने सपने में पड़ोस के बच्चे के थप्पड़ मारा है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसके भीतर मारने की वासना छिपी हुई है। यदि हम चाहते हैं कि बच्चा बड़ा होकर सौम्य, सुशील और सरल बने; तो हमें बचपन से ही उसके प्रति चौकन्ना रहना होगा। हम अपने बच्चे को पड़ोस के लड़के के पास भेजें और कहें कि 'जाओ, उससे क्षमा माँगो। उससे जाकर कहो कि मैंने तुम्हें चाँटा मारा, सपने में ही सही, पर मुझसे यह भूल हुई।'।

यह प्रक्रिया चित्त-शुद्धि की है। बुरे संस्कार कहीं चित्त में दमित न हो जाएँ, जड़ न पकड़ लें, इसीलिए चित्त-शुद्धि और उसकी निर्मलता के उपाय किए जाने चाहिए।

जापान ने हाल ही में एक मशीन तैयार की है जो स्वप्न रिकॉर्ड किया करती है। उनका मानना है कि स्वप्न देखते समय मनुष्य की आँख की पुतलियाँ बहुत तेजी से काम करती हैं। यह मशीन मनुष्य की आँखों और जबड़ों में फिट कर दी जाती है। इस मशीन का उपयोग अपराधियों की अपराध-भावना का पता लगाने के लिए विशेष रूप से किया जाता है।

अब तो ऐसी भी मशीन निकल चुकी है जो तुम्हें अपने मनवांछित सपने दिखा सकती है। तुम्हें जिससे मिलना हो, जो कुछ करना हो, जहाँ घूमना हो, तुम केवल

उसे मन में सोचकर सो जाओ। आश्चर्य! तुम्हें स्वप्न में वही सब कुछ नजर आने लग जाएगा। स्वप्न-विज्ञान पर बहुत खोज की गई है। नास्त्रेदमस की भविष्यवाणियाँ केवल नक्षत्रों से मिले संकेत ही नहीं हैं, अपितु स्वप्न में देखी गई स्थितियों के भी संकेत हैं। मन के जंजाल के चलते आने वाले सपने निस्सार होते हैं, पर सपनों के प्रति सावधान! तुम्हें सार्थक सपने भी अनुभूत हो सकते हैं।

यहूदी संत मजीद के जीवन से जुड़ी हुई एक अनूठी घटना है। कहते हैं : मजीद को एक रात सपना आया। सपने में उसने देखा कि कोई उसे कह रहा है, मजीद! तू यहाँ बैठे क्या कर रहा है? तू दुःखी, तेरी पत्नी दुःखी। जा यहाँ से राजधानी में। राजधानी का नाम है वासा। वहाँ पुलिस के पास वृक्ष है। वृक्ष के नीचे सिपाही खड़ा रहता है। उसी वृक्ष की जड़ों में खजाना गड़ा है। जा, और ले आ।

मजीद सपने को देखकर चौंका। पर उसने सोचा, सपना है, और सपना कभी सच नहीं होता। पर दूसरे दिन भी उसे वैसा ही सपना आया। उसने फिर मन को समझाया कि सपने सागर की लहरों की तरह आते-जाते हैं। पर तीसरे दिन भी, उसने रात में वही सपना देखा। इस बार उसे लगा कि एक ही सपना बार-बार आ रहा है। जरूर इसमें कुछ रहस्य है। तहकीकात करनी चाहिए। वह लंबी दूरी तय कर वासा पहुँचा। देखा, नगर के बाहर पुलिया है, बिल्कुल वैसा ही जैसा सपने में दिखाई दिया था। वैसा ही वृक्ष और वृक्ष के नीचे सिपाही।

उसे अब विश्वास हो आया कि जरूर मामले में दम है। वह वृक्ष के पास पहुँचा। पर सिपाही था, सो लौट आया। सोचा, रात को आता हूँ। रात को वह पहुँचा, पर इस बार सिपाही को उस पर संदेह हो आया। उसने उसे पकड़ लिया। कहा, जरूर दाल में कुछ काला है। सच बोलो, क्या करने आए थे? वरना जेल की हवा खानी पड़ेगी।

मजीद ने आखिर वह सच कह दिया, जो उसने सपने में देखा था। सिपाही उसकी बात सुन हँस पड़ा। उसने कहा – बेवकूफ! अगर मैं तेरी तरह सपने में विश्वास करता, तो मैं आज क्राका गाँव में होता। सिपाही ने बताया कि वह भी लगातार तीन दिन से एक ही सपना देख रहा है कि क्राका गाँव में मजीद नाम का कोई संत है। उसकी झोंपड़ी में चूल्हे के पास जमीन में धन गड़ा है। मैं जाऊँ और खोदकर उसे पा लूँ।

सिपाही और कुछ बोले, उससे पहले ही मजीद ने कहा, क्या यह सच है? सिपाही ने कहा, सच होता, तो वह अब तक मजीद की झोंपड़ी में पहुँच चुका होता, पर यह वास्तव में सपना है।

मजीद भागा अपने गाँव की तरफ, क्योंकि सिपाही ने जो कुछ बताया था, वह उसी के घर की बात थी। वह घर पहुँचा, खुदाई की, वहाँ खजाना गड़ा मिला।

सपने बड़े अजीब हैं। सपने हमेशा दूर के डूंगर दिखाते हैं, जब कि खजाने गड़े होते हैं पास, अपने ही पास। तुम्हारे पास भी खजाना गड़ा हो सकता है, सपने दूर के मत देखो। आँखें खोलो, सच्चाई तुम्हारे इर्द-गिर्द है, तुम्हारी जड़ों में है।

स्वप्न-वृत्ति की अगली कड़ी है निद्रा। स्वप्न का संबंध तो अतीत और भविष्य से है जबकि नींद का संबंध वर्तमान से है। वर्तमान तो अतीत और भविष्य के दो किनारों को एक-दूसरे से मिलाने का सेतु है। जागरण वर्तमान के बनते-बिगड़ते रूप में ध्रुवता व शाश्वतता की खोज का तरीका है। समय की चक्की चलती रहती है। जागृत पुरुष वह है जो स्वयं को कील पर, केंद्र पर केंद्रित कर लेता है। महावीर ने इसे सम्यक् दर्शन कहा है। ऊर्जा का केंद्रीकरण और साक्षित्व का सर्वोदय ही सम्यक् दर्शन है।

समय की धारा में अतीत और भविष्य की बजाय वर्तमान पर केंद्रीकरण करना बेहतर है, परंतु मनुष्य के लिए तो आत्म-श्रेयस्कर खुद-में-खुद का जगना ही है। सपने से नींद भली और नींद से जागृति।

स्वप्न भटकाव है और नींद मूर्च्छा। स्वप्न तृष्णा है और नींद उसमें डुबकी। नींद शरीर की आवश्यकता है, परंतु यहाँ नींद का संबंध शरीर से नहीं, वरन् मन की मूर्च्छा से है। मूर्च्छा ही निद्रा है। निद्रा के ज्ञान का अर्थ है – मूर्च्छा का ज्ञान। मूर्च्छा को समझना ही मूर्च्छा से मुक्त होने का आधार है।

जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अलग-अलग हैं। तीनों के अलगाव का बोध जीवन में ज्ञान की क्रांति है। अध्यात्म की शुरुआत जागृति से होती है और उसकी पूर्णता सुषुप्ति में। हम जिसे जागना कहते हैं, वह तो ऊपर-ऊपर है। रात को सोए थे और सुबह आँखें खोलीं, नींद से उठना यह शारीरिक घटना हुई। इस जागरण से बाहर का जगत् तो दिखाई देगा, परंतु भीतर के जगत् का कहीं कोई दर्शन न होगा। संसार को देखना आँखों का जागरण है और आत्मा को पहचानना अंतरकी आँखों का जागरण है।

अभी तक मनुष्य को यह ज्ञान कहाँ है कि मैं कौन हूँ? उसे बाहर की तो सारी वस्तुएँ और हलचल दिखाई पड़ती है, पर यह कहाँ दिखाई देता है कि मैं कौन हूँ। सूई तो खोई पड़ी है घास के ढेर में। आत्मा का कहीं कोई अता-पता नहीं। हमने तो रात को सोना सुषुप्ति मान लिया और सुबह नींद से उठना जागृति।

जागृति में बाहर के जगत् का ही मूल्य बना रहता है। सुषुप्ति सोना है। सोने में

न तो बाहर के जगत् का महत्त्व रहता है और न अंतर-जगत् का। सोया हुआ आदमी जीवित मुर्दा है। सोने के बाद होश कहाँ रहता है ? भीतर और बाहर का निजत्व और परत्व का बोध तो गहन अंधकार में है।

स्वप्न बाहर और भीतर दोनों से ही अलग यात्रा है। स्वप्न में अंतर्जगत् से संबंध का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। स्वप्न में तो होती हैं केवल वे बातें, जिनका मन पर संसार का प्रतिबिंब बना है। चाँद नहीं होता पानी में, चाँद की झलक होती है। स्वप्न में वे तैरते रहते हैं, जो हमने जाग कर संसार से लिए हैं।

स्वप्न वास्तव में प्रतिबिंबों का ज्ञान है। जागृति प्रतिबिंबों के आधारों का ज्ञान है। सुषुप्ति ज्ञान-शून्य अवस्था है।

हम न जागृति हैं, न स्वप्न और न सुषुप्त। हमारा व्यक्तित्व तीनों से अलग है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तो शरीर और चित्त के बीच चलने वाला गृह-युद्ध है। आत्मा का गृह-युद्ध से भला क्या संबंध ? वह न कर्ता है, न भोक्ता। वह मात्र साक्षी है। साक्षी को कर्ता मान लेना ही माया और मिथ्यात्व है।

जो सोने, जगने और भटकने से अतिक्रमण कर लेता है, उसकी अवस्था परम है। इसे तुर्या-अवस्था कहते हैं। तुर्या-अवस्था परम ज्ञान है। परम ज्ञान के मायने हैं स्थितप्रज्ञता। तुर्या में प्रवेश अंधकार से मुक्ति है। यह प्रकाश में प्रविष्टि है। यही वह अवस्था है जिसे शंकर ने शिवत्व कहा है, बुद्ध ने बुद्धत्व कहा है। जिनेश्वर का जिनत्व भी यही है। रवींद्र के शब्दों में –

जहाँ चित्त भय-शून्य, सिर उन्नत।
ज्ञान-मुक्त; प्राचीन गृहों के अक्षत।
वसुधा का जहाँ न करके खंड-विभाजन।
दिन-रात बनाते छोटे-छोटे आँगन।
प्रति हृदय-उत्स से वाक्य उच्छ्वसित होते।
हों जहाँ, जहाँ कि अजस्र कर्म के सोते।
अव्याहत दिशा-दिशा देश-देश बहते।
चरितार्थ सहस्रों-विध होते रहते।

तुर्या ऐसी ही अवस्था है परम विकासमयी, प्रकाशमयी। तुर्या वह अवस्था है, जहाँ दृश्य भी रहता है और द्रष्टा भी। सिर्फ खो जाती है बीच की माया। टूट जाता है दोनों का संबंध-योजक तादात्म्य।

तुर्या की प्राप्ति के लिए सबसे कारगर उपाय है – भेद-विज्ञान। भेद-विज्ञान महावीर की देन है। सत्य तो यह है कि महावीर के संपूर्ण तत्त्व-दर्शन को एक मात्र

इसी शब्द से व्याख्यायित किया जा सकता है। भेद-विज्ञान का अर्थ है, स्वयं को चित्त से अलग मानना, चित्त की वृत्तियों से अलग मानना, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति से अलग मानना, संसार, संसार के प्रतिबिंब और शारीरिक तंद्रा से अलग मानना।

अभी तो सब एक-दूसरे से घुले-मिले हैं, रचे-बसे हैं। जगे हैं तो जुड़े हैं; सो रहे हैं तो सपनों में तैर रहे हैं, जबकि हमारा स्वभाव न तो सोना है न सपने देखना। जो एकरसता है, वह तादात्म्य के कारण है। न तुम झूठे हो, न तुम्हारा पड़ोसी, न संसार झूठा है, न चाँद-सितारे। झूठा है तादात्म्य, संबंधों का आरोपण, आरोहण और अवरोहण।

तादात्म्य ही दुःख का कारण है। दुःखी होने पर रोते हो और सुखी होने पर खुश नजर आते हो। जबकि सत्य तो यह है कि तुम तो सुख और दुःख दोनों से अलग हो। मैं अलग हूँ, यह बोध ही तो भेद-विज्ञान का मूल फॉर्मूला है। क्रोध है तो क्रोध से, लोभ है तो लोभ से, चोट है तो चोट से, भूख है तो भूख से, अपने आपको अलग मानो।

यदि क्रोध आए तो क्रोध को देखो और यह अनुभव करो कि क्रोध करने वाला मैं नहीं हूँ। मैं तो क्रोध की चिनगारी उठने से पहले भी था। उसके बुझ जाने के बाद भी 'मैं' तो रहेगा। क्रोध तो क्षणिक है, मैं क्रोध नहीं हूँ।

चोट लगने पर यह अहसास न करें कि मुझे चोट लगी है। चोट तो शरीर को लगी है और मैं शरीर से भिन्न हूँ। सच्चाई तो यह है कि अगर भेद-विज्ञान सध जाए, तो चोट और दर्द की अनुभूति बड़ी क्षीण होगी, अत्यंत सामान्य और न्यूनतम। शरीर के प्रति जितना लगाव होगा, शारीरिक वेदना हमें उतनी ही व्यथित करेगी। परिणाम जो होना होगा, सो तो होगा ही। भेद-विज्ञान परिणाम से पूर्व होने वाली चीख-चिल्लाहट को नहीं होने देता। दर्द और दुःख के बीच भी चेहरे पर उभरने वाली मुस्कान ही चेतना की प्रकाशमान् दशा है।

भूख लगने पर भोजन अवश्य करें, परंतु इस समझ के साथ कि भूख शरीर का स्वभाव है। भोजन मैं नहीं कर रहा हूँ, बल्कि शरीर को करा रहा हूँ। वासना भी उठे, तो भी यही जानो कि वासना शरीर की उपज है। मैं वासनाग्रस्त नहीं हूँ।

शरीर को जो चाहिए, उसे दीजिए। गर्मी लगे, तो हवा की सुविधा दीजिए। मैल चढ़े, तो नहलाइए। भूख लगे, तो खिलाइए, पर इस स्मृति के साथ कि यह सब मैं नहीं हूँ। जब तक शरीर मेरे साथ है, उसे उसकी सुविधाएँ देंगे। मैं कौन हूँ – मैं इनसे अलग हूँ।

अलगाव-बोध की यह प्रक्रिया भेद-विज्ञान है। ध्यान और अध्यात्म को जीवन में घटित करने के लिए यह परम विज्ञान है। सर्वप्रथम, दिन में यह विज्ञान आत्मसात् करें। दिन का अर्थ है वह समय जब आँखें खुली रहें; आदमी जगा रहे। सारे काम जागकर ही किए जाते हैं। इसलिए जागने से ही तुर्या की शुरुआत होती है। हम जो कुछ भी करें, जो भी देखें, जिसे भी छुएँ, सब करते हुए भी स्वयं को सबसे अलग जानें। ऐसा लगे मानो यह देखना, करना और छूना महज एक सपना है।

संसार एक सपना है। अपने को सपना मानना आत्म-जागरूकता को प्रोत्साहन देना है। रात को भी जो सपने आते हैं, उनके प्रति भी धीरे-धीरे जागरूकता बढ़ेगी। सपना जैसे ही टूटे, उसकी असलियत को पहचानने की कोशिश करो, उसका सम्यक् निरीक्षण करो। ऐसा करने से चित्त की एकाग्रता बनेगी और शून्य उभरेगा। शून्य में उतरो और शून्य को देखो। शून्य-द्रष्टा बनो।

आप पाओगे कि स्वप्न खो गया। सुषुप्ति में जागरूकता/सजगता/सचेतनता अवतरित हो गई। संसार की निगाहों में हम सोए हैं, पर गीता कहेगी योगी सुषुप्ति के मंदिर में जागा है। जागृत-सुषुप्ति का नाम ही समाधि है और स्वयं को ज्ञेय से भिन्न ज्ञाता मात्र जान लेना आत्मज्ञान है। यह तुर्यावस्था है। जहाँ साधक दिखने में आम आदमी जैसा ही होता है, पर बड़ा भिन्न-ज्ञाता मात्र/साक्षी मात्र; बुद्धि और तर्क से परे रहकर, सिद्धत्व का वरण करता है।



सहज मिले अविनाशी

तुम अपना हर कर्म प्रभु को समर्पित करो,
तुम्हारा कर्म ही तुम्हारी पूजा का पुष्प बन जाएगा।



रात काफी गहरा गई थी। आसमान तारों से भरा हुआ था। ठंडी हवाएँ बयार-सी बह रही थीं। फूल और पत्तियाँ ओस से दबी/भरी थी। सब लोग अपनी-अपनी चादर खींचे अपने-अपने घरों में सोए पड़े थे।

रात आधी बीत चुकी थी। हठात् माँ की आँखें खुली। देखा, बेटा बरामदे में बैठा आकाश की ओर निहार रहा है। उसके होंठ फड़फड़ा रहे हैं। आँखें किसी विरहिणी की तरह भीगी हैं। माँ समझ गई, बेटा क्या कर रहा है ?

माँ ने पूछा, इतनी रात गए, अभी तक तुम प्रार्थना में बैठे हो ? बेटे ने कहा, माँ, जरा देखो उस पेड़ पर बैठे पपीहे को। वह भी तो इतनी रात गए, जागा बैठा है। अगर वह पपीहा अपने प्रिय की प्रतीक्षा में आधी रात तक पीऊ-पीऊ कर सकता है, तो फिर मैं क्यों नहीं कर सकता ? पपीहे का पीऊ तो यहीं-कहीं गया होगा। मुझे जिसकी प्रतीक्षा है, उसके लिए तो मुझे अनेक जन्म लगाने होंगे।

माँ की आँखें भर आईं। उसने कहा – तेरा प्रिय तुमसे दूर नहीं है। तुम उसमें डूब रहे हो और वह तुम में प्रकट हो रहा है। देखो, अपने भीतर रसभरी बारिश को, थिरकती हुई ज्योति को।

जिंदगी की देहरी पर होने वाली यह प्रतीक्षा ही प्रार्थना है। जैसे दीपक मंदिर-मंदिर जलता रहता है, प्रार्थना भी ऐसा ही जलना है। तन के तेल को, मन की बाती को, ज्योति से आत्मसात् होने के लिए न्योछावर कर देना होता है। परमात्मा का फूल हर ओर खिला हुआ है। पत्ती-पत्ती पर उसकी मुस्कान उभर रही है। नदियों की लहरों में उसकी थिरकन है। हवा के झोंकों में उसका स्पर्श है। आँखों-आँखों में

उसका वास है। यह भी कैसा आश्चर्य है कि नयन-नयन में बसने वाला खुद के नैनों को ही दिखाई नहीं देता।

प्रार्थना केवल पाठ बोलता ही नहीं है। प्रार्थना तो प्रतीक्षा है। जो हो रहा है, उसका अंगीकार है। जो आ रहा है, उसका स्वागत है। साँस-साँस में वही रम रहा है। दुनिया रमती है देह में, और वह विहरता है साँसों में। जो अपनी हर साँस को आराधना के लिए न्योछावर कर देता है, उसी की प्रार्थनाएँ परवान चढ़ती हैं।

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे।

मैं तो मेरे नारायण की आप ही हो गई दासी रे।

लोक कहै मीरा भयी रे बावरी, न्यात कहै कुलनाशी रे।

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे।

विष का प्याला राणा जी भेज्या, पीवत मीरा हांसी रे।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिले अविनाशी रे।

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे।

यह नृत्य प्रार्थना का अहोभाव है। दुनिया की निगाहों में यह नृत्य नहीं, पागलपन है, पर प्रेमी के लिए तो यह प्रेम का महोत्सव है, परमात्मा-प्राप्ति की सावन-बहार है।

परमात्म-प्राप्ति के लिए तो मंदिर की आरती के समान अपने देव के प्रति समर्पित होना होता है। मधुर-मधुर, मंद-मंद जलने वाले दीए की तरह प्रियतम का पथ आलोकित करने की आकुलता, जीवन के मंदिर में होने वाली अखंड आरती है।

प्रार्थना का अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि को गिरवी रख दो और हृदय को न्योछावर कर दो। हमारा मस्तिष्क तो हो हृदयमय और हृदय हो मस्तिष्कमय। यही वह पड़ाव है जहाँ ध्यान भक्ति बन जाता है और भक्ति ध्यान। तब तो ऐसी लीलाएँ घटती हैं जिनमें पहचान पाना कठिन होता है कि कौन स्त्री है और कौन पुरुष, कौन प्रेमी है और कौन योगी, आमंत्रण परमात्मा ने दिया है या प्रेमी ने। प्रेमी दोनों ही हैं। 'एक प्राण दुई गात' सब एकमेव हो जाता है, एकरस हो जाता है, वृक्ष बीज में चला जाता है और बीज वृक्ष बन जाता है।

पतंजलि कहते हैं - 'यथाभिमत ध्यानात् वा' - ध्यान हो उसी का जिसका जो इष्ट है। तुम कहते हो, मन डोलायमान है, पर प्रेमी को तो मन का कहीं कोई अता-पता ही नहीं रहता। मन तो विसर्जित हो जाता है प्रेम की आभा में। जहाँ मन है, वहाँ उसकी निकटता का अहसास नहीं है। मन तो निकटता में दूरी लाने वाला है। साधक का तो एक ही विचार होता है, एक ही मन होता है, एक ही गंतव्य होता

है — एकमात्र उसका साध्य-आराध्य।

उस परम अस्तित्व की संभावना घर-घर है, देह-देह, डगर-डगर है। सब में उसका नूर है और लोग ढूँढते दूर हैं। वह हमारे पास है—ऐसा न कहकर यों कहूँगा कि वह हमसे दूर नहीं है। हम कली हैं, वह फूल है। भला कली और फूल में कहीं कोई फासला है? उनमें सिर्फ खिलने का फर्क है। कली और फूल, एक ही घटना के दो चरण हैं।

परमात्मा को किसी भी रूप में पुकारो। उसकी उपस्थिति हर रूप में है। उसके लिए रूप का महत्त्व नहीं है, पुकार का महत्त्व है। वह राम भी है, राम के पार भी। कृष्ण भी है, कृष्ण के पार भी। महावीर और बुद्ध भी वही है। अल्लाह और ईसा भी वही है, उनके पार भी वह बसता है। यह औरों में भी है, सारे जहान में है। किसी में सोया है, तो किसी ने उसे जगा लिया। जो सोया है, वह मूर्च्छित है। जो जाग गया, सो पार हो गया। तीर्थंकर, बुद्ध-पुरुष, चैतन्य-पुरुष वे कहलाते हैं, जो जागें और पाएँ।

स्वयं के आनंद के लिए, स्वयं की शाश्वतता के लिए समर्पण ही हमारा संकल्प हो। आराधना की वेदी पर प्रत्येक साँस उसी के लिए न्योछावर हो, जिसके प्रति समर्पित हैं। विश्वस्त रहो, पार लगोगे। शंकाएँ डुबोती हैं, विश्वास पार लगाता है। विश्वास द्वार है। यह तो ऐसा आनंद का सागर है कि पार लगे, तो भी सौभाग्य और डूब गए, तब भी खुशकिस्मत।

तुमी सागर, आमी तरी,

तुमी खेवार माझी।

पार न दिया डुबावो जदि

ताते उ आमी राजी ॥

हम तो सहजिया साधक हैं। हमने तो मान लिया कि तुम्हीं सागर हो और तुम्हीं खेने वाले माझी। मैं तो मात्र नौका हूँ। पार लगाओ, तो भी बलिहारी और मंझधार में डुबाओ, तो भी शुक्रिया। पाएँगे तो आखिर तुम्हें ही। पार लगे, तब भी तुम मिले और डूब गए, तब भी तुम्हीं से भेंट हुई। वे धन्य हैं, जो डूबकर पार लगे।

प्रार्थना डूबना है। जितना डूब सको, प्रार्थना उतनी ही विराट् होगी। तुम तो पा लोगे, किंतु वे ख्वाबों में ही रह जाएँगे जो सागर में उतरने से कतराएँगे। तुम उनमें डूबो, वे तुममें डूबेंगे। तुम हरि का सुमिरण करो, हरि तुम्हारा सुमिरण करने लगेंगे। तुम जैसा अपना आभामंडल बनाओगे, तुम्हें वापस वैसी ही रंगत मिलेगी।

एक प्यारा-सा प्रसंग है। कहते हैं कि एक बार राम नदी से पार होने के लिए

नाव पर चढ़ने लगे। नाविक ने पूछा – ‘प्रभु, तुम्हारी चरण-धूलि के स्पर्श से शिला नारी अहिल्या बन गई थी। मेरी आजीविका का एकमात्र साधन यह नाव भी अगर आपके चरण-स्पर्श से मनुष्य या नारी बन गई, तो मैं कमाने-खाने से हाथ धो बैठूंगा। इसलिए तुम्हें नाव में बैठाने से पहले मैं तुम्हारे पैर धोऊंगा।’ राम मुस्कराए। उन्होंने अपने पाँव धुलाए और नाविक ने उन्हें नाव में बैठा कर नदी पार कराया।

स्वाभाविक है कोई हमें पार लगाए, तो उसे मजदूरी तो चुकानी ही होगी। राम को इस बात का अहसास हुआ। उन्होंने अपनी रत्नजड़ित अंगूठी निकाली और नाविक को देने लगे। केवट ने अंगूठी देखी और वह भगवान से अनुनय करने लगा – हे नाथ! आप दया करके दुनिया को भवसागर से पार करते हैं और मैं परिवार के पोषण के लिए लोगों को नदिया से पार करता हूँ। इसलिए हम दोनों मल्लाह हैं। जैसे नाई-धोबी अपने जाति भाइयों से मजदूरी नहीं लेते और बदले में एक-दूसरे का काम कर दिया करते हैं, उसी तरह मेरा आपसे पैसे का कैसा लेन-देन? आपको नदिया से पार लगना था, तो मैंने पार लगा दिया। जब मैं आप के घाट पर आऊँ, तो आप कृपा करके मुझे भवसागर से पार लगा देना। मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगा।

जीवन की नैया ऐसे ही पार लगती है। तुम उसकी डोर पकड़ो, वह तुम्हारा हाथ थामेगा। यदि तुम अपने आपको उससे दूर कर बैठोगे, तो वह तुम्हें तुम्हारे भाग्य पर छोड़ देगा।

नाम जो रती एक है, आप जो रती हजार।

आध रती घट संचरे, जारि करे सब छार ॥

परमात्मा का तो दो मिनट का स्मरण ही मन के तमसू को दूर करने का आधार बनता है। ईश्वर का एक रती नाम हजार रती पापों को नष्ट करने में समर्थ है। तुम अपने हर कार्य से पूर्व ईश्वर का स्मरण करो। हर कार्य के परिणाम को परमात्मा के चरणों में अर्पित किया जाने वाला पुष्प समझ लो। तुम ताज्जुब करोगे कि तुम्हारा बुहारी लगाने का काम भी किसी की माला जपने की तरह होगा। हाथ में रखी हुई माला के मनकों से भी ज्यादा मूल्यवान है मन का मनका। इसीलिए तो कहते हैं –

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।

कर का मनका छोड़ि कै, मन का मनका फेर ॥

भले ही गले में कंठी धारण कर ली हो या अँगुलियों पर माला लुढ़क रही हो, पर मन में निन्यानवे का चक्कर तो जारी ही रहा। इसलिए मन के मनके को, भीतर की सुरति को मूल्य दिया गया। मन में प्रभु से लौ लगाते हुए यदि दो घड़ी भी बिताई जाए, तो वे दो घड़ियाँ भी तुम्हें धन्य करेंगी। उस समय तुम्हारे मन में, तुम्हारी आँखों

में उस अविनाशी की छवि होगी। तुम पाप से तो बचोगे ही, तुम्हारा हर कृत्य पुण्यमय हो जाएगा।

चंचल मन को स्थिर करने के लिए स्वयं को शोक-रहित करो और मन को प्रकाशमयी प्रवृत्तियों में लगाओ। वीतराग को तुम अपना आदर्श बनाओ। मन को स्वप्न और मूर्च्छा से बाहर निकालो। उसकी सदा स्मृति रखो जिसका जो इष्ट है। भगवान् की स्मृति को भूलो मत, फिर चाहे तुम कोई भी काम क्यों न कर रहे हो। हुसैन ने अपने लिए कभी यह टिप्पणी की थी कि भजन करते समय तो मैं कुछ अच्छा होता हूँ, वरना मेरे जैसे सौ हुसैनों से तो वह कुत्ता अधिक अच्छा है जो मालिक की रोटी खाकर मालिक की हाजिरी बजाता है।

जब भी ईश्वर की याद हो आए, अपनी साँसों में उसका स्वाद और सुवास ले लो। अपनी आँखों से जगत् को निहार कर उसकी रचना का आनंद ले लो। मीरा ने गिरधर को पाया था। तुम हरिहर को पा लो।

सुमिरन सुरत लगाय के, मुख से कछुअ न बोल।

बाहर के पट देय कर, अंतर के पट खोल॥

भीतर में उसकी 'सुरति' रहे, स्मृति रहे और हृदय में मीरा-भाव जन्मे, तभी गिरधर आत्मसात् हो सकते हैं।



कैवल्य के द्वार पर

हर हाल में बोध रहे 'मैं एक हूँ', शेष सब संयोग-संबंध हैं।



योग हमारे जीवन का आधार है—इस बात पर हमारा ध्यान केंद्रित हो या न हो, परंतु योग का वियोग जीवन के आँगन में संभव नहीं है। जगत् चाहे भीतर का हो या बाहर का, सारे आयोजन योग के कारण हैं।

अस्तित्व का हर अंश योग रूप है। योग का अर्थ है जुड़ना। बहिर्जगत् से जुड़ना भी योग है और अंतर्जगत् से जुड़ना भी योग है। बहिर्जगत् से मतलब उस जगत् से है जिसके साथ हमारे अपने बनाए हुए संबंध हैं। अंतर्जगत् का अर्थ शरीर के भीतरी भाग में नहीं है। जहाँ तक शरीर का संबंध है, वह भीतरी रूप से धारण करके भी बहिर्जगत् का ही अंतःपुर कहलाएगा।

शरीर बहिर्जगत् की देन है। माता-पिता से शरीर प्राप्त हुआ, इसलिए शरीर अंतर्जगत् नहीं है। वचन और मन भी अंतर्जगत् नहीं कहलाएँगे। महावीर ने उसे बहिर्आत्मा कहा है— जो मन, वचन और शरीर के परिवेश में जीता है। महावीर का मानना है कि परमात्मा का ध्यान तभी हो सकता है जब व्यक्ति मन, वचन और काया के बहिर्आत्मपन से ऊपर उठकर अंतरात्मा के गंतव्य का मुसाफिर बने।

मनुष्य बनाम आत्मा के तीन रूप हैं— बहिर्आत्मा, अंतर्आत्मा और परमात्मा। बहिर्आत्मा बाह्य जगत् का योग है! अंतर्आत्मा अंतर्जगत् का योग है। परमात्मा योग-मुक्ति है। वहाँ भीतर और बाहर के भेद नहीं रह जाते। जो भीतर भी परमात्मा को निहारे और बाहर भी, चारों ओर परमात्मा ही परमात्मा को नजर मुहैया करे, वही परमात्म-पद पर प्रतिष्ठित है। वह ऐसा दीपक है, जो देहरी पर विराजमान है। रोशनी की बरसात, वह बाहर भी वैसी ही करेगा जैसी भीतर। इसलिए परमात्मा परम विकास है— अंतः बाह्य का।

अंतर्जगत् की अस्मिता विचार और मन से भी सवा कदम आगे है। मन भी

शरीर है। मात्र देह ही शरीर नहीं है। हमारे विचार और हमारा मन भी शरीर के ही दायरे में आते हैं। देह स्थूल शरीर है। विचार देह से सूक्ष्म है। मन शरीर का सबसे सूक्ष्मतम रूप है। शरीर तो परमाणुओं का, पंचभूतों का मिश्रित, संगठित, संपादित रूप है। मन शरीर की पारमाणविक शक्ति है। जैसे-जैसे शरीर का विकास होता है, उम्र का तकाजा मन पर भी लागू होता है।

मन, वचन और शरीर ही बहिर्जगत् के योग के आधार हैं। यदि इन्हें सम्यक् दिशा दे दी जाए, तो ये अंतर्योग में भी सहायक की भूमिका अदा कर सकते हैं। अध्यात्म की भाषा में अंतर्योग के लिए देहातीत शब्द का उल्लेख किया जाता है। देहातीत का अर्थ देह की स्थूलता से ऊपर उठना नहीं है। साधक को उपरत होना होता है, देह से भी और मन से भी। आखिर मन भी देह है और विचार भी। देहातीत कैवल्य-दशा है। वही व्यक्ति देहातीत है जो मन से ऊपर है, वचन से ऊपर है, देह से ऊपर है – यानी मनातीत, वचनातीत, कायातीत।

देहातीत अनिवार्यतः कालातीत होता है। देहातीत का संबंध होता है आत्मा से और काल का संबंध होता है देह से। काल आत्मा को कुंठित नहीं कर सकता। काल का धर्म परिवर्तन है और परिवर्तन के सारे मापदंड देह से जुड़े होते हैं। जो देह से ऊपर उठ गया, वह काल से भी ऊपर हो गया। इसलिए देहातीत-पुरुष युग-पुरुष नहीं होता। वह होता है – अमर पुरुष, मृत्युंजय अमृत-पुरुष।

यद्यपि बहिर्जगत् से होने वाला संयोग योग की ही पृष्ठभूमि है, परंतु वह योग कालातीत और अपरिवर्तनशील नहीं है। जिसकी देह गई, उसका जग गया। देह जग से मिली और जग में समा गई। देह में प्रवास करने वाला 'मैं' तो देह के साथ नहीं मरा। 'मैं' तो कालमुक्त है और देह कालग्रस्त। शरीर और जगत् के साथ होने वाला योग आरोपित है। ध्रुवता के गीत ऐसे योग में झंकृत नहीं होते। साथ तो आखिर वह रहता है, जो जन्म से पहले भी जीवित था और मृत्यु के बाद भी संजीवित रहेगा।

जीवन की विभिन्न भूमिकाओं को देखते हुए, योग भी कई साँचों में ढला हुआ नजर आता है। बहिर्योग, अंतर्योग और परमयोग, ये तीनों योग के ही प्रतिमान हैं। बहिर्योग बाहर के जगत् से जुड़ना है। अंतर्योग भीतर की ओर बैठक लगाना है। परमयोग भीतर और बाहर, दोनों को ही भूल जाना है। वह तो अपने आपको परमात्मा में ढूँढ़ना/निहारना है। यह योग की पराकाष्ठा है। मुझे यह स्थिति बहुत प्यारी है। परंतु यहाँ से आगे भी एक और स्थिति की संभावना है। मैं उसे योग न कहकर 'अयोग' कहूँगा।

अयोग में सारे योग पीछे धकिया दिए जाते हैं। संसार और शरीर का ही नहीं, परमात्मा के प्यार का भी यहाँ वियोग हो जाता है। परमयोग परमात्मा से प्यार है, परंतु

अयोग स्वयं परमात्मा हो जाना है। वह विशुद्ध दशा है।

कैवल्य का अर्थ है केवलता। यह वह परिस्थिति है, जहाँ 'मैं' तो छूट ही जाता है, 'हूँ' भी पीछे रह जाता है। यहाँ रहती है, अस्तित्व की विशुद्धता, खुद की खालिशता।

कैवल्य स्थिति के लिए एक और प्रचलित शब्द है – सर्वज्ञता। सर्वज्ञता का अर्थ होता है स्वयं की सर्वसत्ता का ज्ञान। यद्यपि सर्वज्ञता और कैवल्य, दोनों एक ही सत्य के दो नाम हैं, पर कैवल्य सर्वज्ञता से भी ऊँची चीज है। ज्ञान चाहे स्वयं का ही क्यों न हो, ज्ञान की अनुभूति के लिए मन का संवेदनशील होना अनिवार्य है। इसलिए सर्वज्ञत्व अंतर-योग और परम योग हो सकता है, परंतु अयोग का विशुद्ध रूप तो कैवल्य की ही देन है। समाधि तो सर्वज्ञता भी है और कैवल्य भी। सर्वज्ञता की स्थिति सबीज समाधि है और कैवल्य निर्बीज समाधि है।

सबीज समाधि में स्मृति से वियोग नहीं होता, बल्कि उसमें स्मृति का शुद्धीकरण होता है। उसमें मन की चंचलता समाप्त हो जाती है, परंतु जरूरत पड़ने पर मन का भी उपयोग किया जाता है। उसमें विचार मौन हो जाते हैं, किंतु आवश्यकता पड़ने पर होंठों से भी अभिव्यक्ति संभावित रहती है। सर्वज्ञता बनाम सबीज समाधि में शरीर, विचार और मन-तीनों ही बने तो रहते हैं, पर टूट जाता है सिर्फ तीनों का लगाव। उसमें बुद्धि का भी उपयोग होता है किंतु यह वह बुद्धि नहीं है, जिसके खाते में सुमिरने/बिसरने की बातें दर्ज हों। बुद्धि प्रज्ञा बन जाती है – सवितर्क, संप्रज्ञात, सानंद, सदाबहार। वहाँ होती है प्रज्ञा ऋतंभरा अर्थात् पूरी तरह विकसित/प्रकाशित – 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'।

कैवल्य सबसे मुक्ति है, सारे संबंधों से छुटकारा है। कैवल्य यह समाधि है, जिसमें वृक्ष तो रहता ही नहीं है, बीज भी खो जाता है। इसलिए कैवल्य वास्तव में निर्बीज समाधि है। कैवल्य तो अध्यात्म-प्रसाद है। अस्तित्व का सबसे बड़ा सौभाग्य है। कैवल्य वह स्थिति है जिसके आगे और कोई गंतव्य नहीं बचता। जहाँ जाकर सारे चरण रुक जाते हैं, बुद्धि अपने हथियार डाल देती है, तर्क तेजहीन हो जाते हैं और मन की चिंता बुझ जाती है।

जहाँ सबका निरोध हो जाता है, सिर्फ स्वयं की मौलिकता बची रहती है, कृष्ण की भाषा में वह 'ईश्वर-प्राप्ति' है। महावीर के शब्दों में वह 'मोक्ष' है। बुद्ध उसे 'निर्वाण' कहते हैं और पतंजलि उसे 'निर्बीज समाधि'। ये सारे संबोधन घुमा-फिराकर उसी एक स्वरूप के उपनाम हैं, जिसे मैंने 'कैवल्य' कहा है।

हम दो शब्दों पर ध्यान दें – सयोगी केवली और अयोगी केवली। दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। सयोगी केवली के मायने हैं कैवल्य की वह अवस्था जिसमें मन, वचन, काया का योग अभी अवशिष्ट है। अयोगी केवली कैवल्य की वह

अवस्था कहलाती है जहाँ साधक योग से मुक्त हो जाता है। मन, वचन और काया के समस्त संयोगों से मुक्त दशा ही 'अयोगी केवली' अवस्था है। यह जिनत्व की, निर्वाण की अवस्था है, अमृत-अवस्था है।

यह सर्वोच्च अवस्था है। इस स्थिति की बात वही कर सकता है, जो वहाँ तक पहुँचा हो। पतंजलि परमयोगी रहे। उन्होंने जमीन से लेकर शिखर तक के हर सोपान को छुआ है और उसका विज्ञान दिया है। पतंजलि का योगदर्शन अपने आप में धर्म और अध्यात्म का विज्ञान है। इस देश की सारी आध्यात्मिकता एक तरह से 'योगदर्शन' के इर्द-गिर्द ही घूमती हुई नजर आती है।

योग की बातों से यदि कोई गुजरे, तभी इन बातों की सार्थकता है। ध्यानयोग के मार्ग से गुजरकर ही कहा जा सकता है कि आत्मा है, परमात्मा है, समाधि है। इसके पहले सब मात्र शब्दजाल हैं। कोई गुजरे, तो ही 'पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे' जैसे पदों में कोई मीरा नृत्य करती है और मरुस्थल में अमृत की वर्षा का आनंद उपलब्ध होता है।

कैवल्य और वीतरागता, समाधि और मुक्ति का लक्ष्य लिए हुए हम योग के पवित्र मार्ग पर आरूढ़ हों। हम यह जानें कि हम वासना-पिकारों के दलदल में हैं। हमें कर्मों और कषायों के कारागार से मुक्ति पानी है। तृष्णा और माया के कारागार से जैसे ही तुम छूटोगे कि मुक्ति की चाँदनी तुम्हें स्वागत करती हुई नजर आएगी। जीवन में कुछ अपूर्व, अलौकिक घटित हो, तो ही हमारे आध्यात्मिक प्रयासों की सार्थकता है।

अभी तो तुम वेद, गीता और बाइबिल के बारे में कहते हो; फिर वेद-गीता तुम्हारे बारे में कहेंगे। फिर वेद और बाइबिल तुम पर लिखी जाएगी। अभी तो तुम अवतार, पैगंबर और मसीहा के बारे में कहते-पढ़ते हो, पर कैवल्य के द्वार पर पहुँचने पर पीर-पैगंबर, अवतार-तीर्थंकर, बुद्ध-मसीहा तुम्हारे बारे में कहेंगे। अभी तो तुम किसी की मूर्ति के आगे अपना मत्था टेकते हो, फिर दुनिया तुम्हारी मूर्ति के आगे नतमस्तक होगी।

श्रेष्ठता की तरफ, कैवल्य की तरह कदम बढ़े तो ही सार्थकता है। अंधकार में तो हैं ही, प्रकाश-पथ के अनुयायी बनें, तो ही योगशास्त्र और योग-दर्शन फिर से जीवित हो पाएँगे, अपनी सार्थकता सिद्ध कर पाएँगे।

सबके अंतरघट में स्थित आत्मज्योति को, परमात्मज्योति को प्रेमपूरित प्रणाम।



लागत से भी कम मूल्य पर

श्रेष्ठ साहित्य



ऐसे जीएँ : श्री चन्द्रप्रभ

जीने की शैली और कला को उजागर करती विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक। स्वस्थ, प्रसन्न और मधुर जीवन की राह दिखाने वाली प्रकाश-किरण। पुस्तक महल से भी प्रकाशित।

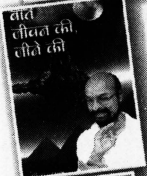
पृष्ठ : 122, मूल्य 25/-



लक्ष्य बनाएँ, पुरुषार्थ जगाएँ : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन में वही जीतेंगे जिनके भीतर जीतने का पूरा विश्वास है। सफलता के शिखर तक पहुँचाने वाली प्यारी पुस्तक। पुस्तक महल से भी प्रकाशित।

पृष्ठ : 104, मूल्य 25/-



बातें जीवन की, जीने की : श्री चन्द्रप्रभ

युवा-पीढ़ी की समसामयिक समस्याओं पर अत्यंत तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन। एक लोकप्रिय पुस्तक।

पृष्ठ : 90, मूल्य 25/-



बेहतर जीवन के बेहतर समाधान : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन की व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान देती एक लोकप्रिय पुस्तक।

पृष्ठ : 130, मूल्य 25/-



वाह जिंदगी ! : श्री चन्द्रप्रभ

सुखी और सफल जीवन जीने का रास्ता। जन-जन में लोकप्रिय एक चर्चित पुस्तक।

पृष्ठ 120, मूल्य 25/-



क्या स्वाद है जिंदगी का : श्री ललितप्रभ

जीवन के विभिन्न सार्थक और सकारात्मक पहलुओं को आत्मसात कराने वाली लोकप्रिय पुस्तक।

पृष्ठ 146, मूल्य 25/-



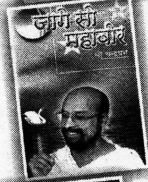
जागो मेरे पार्थ : श्री चन्द्रप्रभ

गीता की समय-सापेक्ष जीवन्त विवेचना। भारतीय जीवन-दृष्टि को उजागर करता प्रसिद्ध ग्रन्थ। फुल सर्कल, दिल्ली से भी प्रकाशित।



धर्म में प्रवेश : श्री चन्द्रप्रभ
नित्य नये पंथों और उपासना-पद्धतियों के बीच धर्म के स्वच्छ मौलिक स्वरूप का निर्देशन। नई पीढ़ी के लोग अवश्य पढ़ें।

पृष्ठ : 96, मूल्य 25/-



जागे सो महावीर : श्री चन्द्रप्रभ
भगवान महावीर के विशिष्ट सूत्रों पर अमृत प्रवचन। अन्तर्मन में अध्यात्म की रोशनी पहुँचाता प्रकाश-स्तम्भ। ज्ञानवर्धन एवं मार्गदर्शन के लिए महावीर पर नई दृष्टि।

पृष्ठ 252, मूल्य 25/-



जीवन, जगत और अध्यात्म : श्री ललितप्रभ सागर
महोपाध्याय श्री ललितप्रभ सागर जी के विशिष्ट प्रवचनों का संग्रह। जीवन, जगत, अध्यात्म और मोक्ष पर पावन मार्गदर्शन प्रदान करने वाली पुस्तक।

पृष्ठ 168, मूल्य 30/-



घर को कैसे स्वर्ग बनाएँ : श्री ललितप्रभ, श्री चन्द्रप्रभ
इस पुस्तक में है पूज्य श्री चन्द्रप्रभ का लोकप्रिय प्रवचन 'माँ की ममता हमें पुकारे' और पूज्य श्री ललितप्रभ का चर्चित प्रवचन 'परिवार को खुशहाली का राज'। घर-घर में पठनीय।

पृष्ठ 168, मूल्य 10/-



सहज मिले अविनाशी : श्री चन्द्रप्रभ
योग के कुछ महत्वपूर्ण सूत्रों के प्रसंग में दिए गए बेहतरीन एवं अनमोल प्रवचन।

पृष्ठ : 100, मूल्य 25/-



आपकी सफलता आपके हाथ : श्री चन्द्रप्रभ
सफलता हर किसी को चाहिए, पर उसे पाएँ कैसे, पढ़िये इस प्यारी पुस्तक को।

पृष्ठ 110, मूल्य 25/-



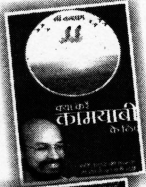
शांति, सिद्धि और मुक्ति पाने का सरल रास्ता : श्री चन्द्रप्रभ
अध्यात्म की सहज-सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचाने वाला एक अभिनव ग्रन्थ।

पृष्ठ : 200, मूल्य 30/-



ध्यानयोग : विधि और वचन : ललितप्रभ सागर
ध्यान योग की वास्तविक समझ पाने के लिए विशेष उपयोगी। साथ ही ध्यान-योग की विस्तृत विधि। पुस्तक महल दिल्ली से भी प्रकाशित।

पृष्ठ : 148, मूल्य 30/-



क्या करें कामयाबी के लिए : श्री चन्द्रप्रभ
कामयाबी के लिए हर रोज नई प्रेरणा देने वाली
एक सुप्रसिद्ध पुस्तक।

पृष्ठ 100, मूल्य 25/-



सकारात्मक सोचिए, सफलता पाइये : श्री चन्द्रप्रभ
स्वस्थ सोच और सफल जीवन का द्वार खोलती
लोकप्रिय पुस्तक।

पृष्ठ 120, मूल्य 25/-



फिर महावीर चाहिए : श्री चन्द्रप्रभ

महावीर अतीत की नहीं वर्तमान की आवश्यकता है।
फिर से समझिए महावीर को।

पृष्ठ 96, मूल्य 25/-



महान जैन स्तोत्र : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
महान चमत्कारी धार्मिक स्तोत्रों का
अनुपम खज़ाना।

पृष्ठ 125, मूल्य 25/-



कैसे जिएँ मधुर जीवन : श्री चन्द्रप्रभ

सुमधुर और सुव्यवस्थित जीवन जीने की
कला सिखाने वाली बेहतरीन पुस्तक।

पृष्ठ 120, मूल्य 25/-

विशेष — अपने घर में अपना पुस्तकालय बनाने के लिए फाउंडेशन ने एक अभिनव योजना बनाई है। इसके अंतर्गत आपको सिर्फ एक बार ही फाउंडेशन को पच्चीस सौ रुपए देने होंगे, जिसके बदले में फाउंडेशन अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले प्रत्येक साहित्य को आपके पास आपके घर तक पहुंचाएगा और वह भी आजीवन। इस योजना के सदस्य बनते ही आपको फाउंडेशन द्वारा प्रकाशित संपूर्ण 'उपलब्ध साहित्य' निःशुल्क प्राप्त होगा। ध्यान रहे, साहित्य वही भेजा जा सकेगा जो उस समय स्टॉक में उपलब्ध होगा। इस योजना के अन्तर्गत संबोधि टाइम्स पत्रिका भी आपको आजीवन निःशुल्क प्राप्त होगी।

रजिस्ट्री चार्ज एक पुस्तक पर 20 रुपये, न्यूनतम दो सौ रुपये का साहित्य मंगाने पर डाक व्यय संस्था द्वारा देय। धनराशि Sri Jityasha Shree Foundation के नाम ड्राफ्ट बनाकर जयपुर के पते पर भेजें। वी.पी.पी. से साहित्य भेजना शक्य नहीं होगा। आज ही अपना ऑर्डर निम्न पते पर भेजें—

श्री जितयशा श्री फाउंडेशन

बी-7, अनुकम्पा द्वितीय, एम.आई. रोड़, जयपुर - 302 001 फोन : 2364737

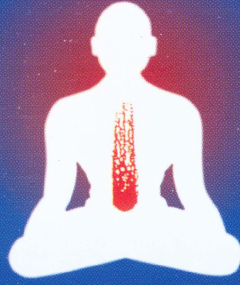
संसार का अनुपम तीर्थ संबोधि धाम

जहाँ ध्यान और आनंद ही नहीं,
विश्वास और प्रेम भी गढ़ा जाता है...

- आत्म-साधना हेतु साधना-सभागार • अष्टापद मंदिर एवं दादावाडी के दिव्य दर्शन • भगवान श्री पार्श्वनाथ एवं माँ सरस्वती की विश्व की सबसे बड़ी प्रतिमा के दर्शन • हरा-भरा नैसर्गिक वातावरण • कलामंदिर का भव्य दर्शन • मनमोहक मूर्तियाँ • झाकियों में उभरता हमारा सांस्कृतिक वैभव • जीवन-निर्माण के लिए साहित्य एवं श्रेष्ठ वीसीडी • प्यारा-सा सर्वधर्म मंदिर



संबोधि-धाम, कायलाना रोड, जोधपुर (राज.) फोन : 2709812



सार-संक्षेप

- ☾ वह हर कार्य स्वीकार्य है, जिससे मन में शांति घटित हो; वह हर कार्य त्याज्य है, जो अशांति का निमित्त बने।
- ☾ वह प्रवृत्ति खतरनाक है, जिसका असर हमारी मनोवृत्तियों पर पड़े।
- ☾ अंधा वह नहीं है, जिसके पास आँख नहीं है ; अंधा वह है, जिसके पास अन्तर्दृष्टि नहीं है।
- ☾ जिसे स्वयं की सतत स्मृति है, उसके जीवन की दहलीज़ पर योग का दीप प्रज्वलित रहता है।
- ☾ मन की वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना संसार की सबसे बड़ी आत्म-विजय है।
- ☾ ज्ञान उसी का है जो उसे जिए। सत्य उसी का है जो उसे आत्मसात् करे।
- ☾ श्रद्धा एक अकेला ऐसा मार्ग है, जो हमें मंजिल तक पहुँचा सकता है।
- जीवन के सर्वोदय के लिए कर्मयोग ही प्रथम और अन्तिम द्वार है।

— श्री चन्द्रप्रभ